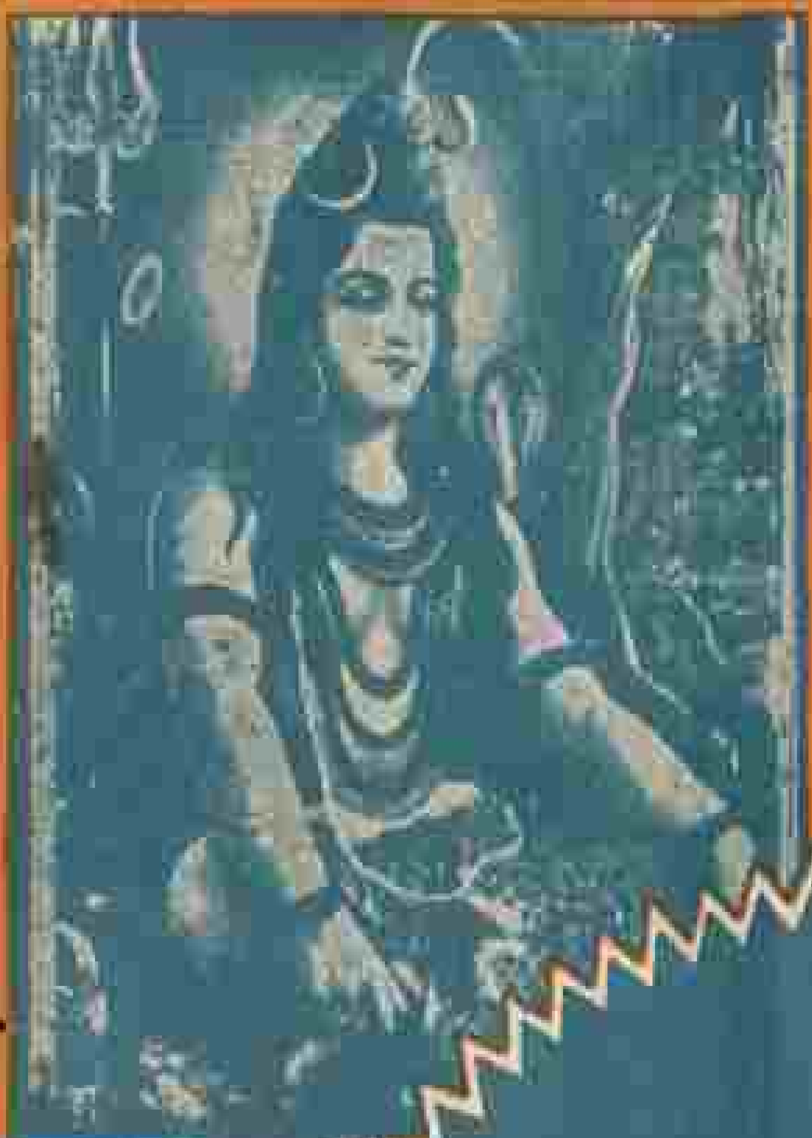

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १७

अंक - ८

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सराई

❀ तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु (विशेष लेख) २
योगयोगेश्वर अनन्त श्री मन्नमोहन जी महाराज

❀ प्रभु से सम्बन्ध किस प्रकार ? ६
योगी श्री योगानन्द जी महाराज

❀ मोह का क्षय मोक्ष ९
स्वामी श्री चन्द्रहास शर्मा एम० ए०

❀ मन का दर्पण १४
श्रीमती सरिता भारद्वाज एम० ए०

❀ योग गगन को देखो मतवार (कविता) २६
श्री डा० केवलराम शर्मा

❀ जीवन में सद्गुरु की आवश्यकता २९
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

❀ महा प्रभुजी का स्वतः प्रसाद ३८
श्री राजेश्वर दत्त शर्मा

❀ त्रिविधि गुरु ४०
श्री केशव उपाध्याय

❀ जैन दिगम्बरों की साधना एवं मोक्ष मार्ग ४२
श्री रामदास जैन एम० ए०

❀ प्रभुवर-वन्दन (कविता) ४७
कविवर श्री दिव्य

❀ ग्राहक तथा पाठकों से ❀

देश में भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की आकस्मिक हत्या हो जाने के फलस्वरूप देशव्यापी जो उपद्रव हुए उनसे तथा लगातार शोक में कई दिनों तक बाजार बन्दी के कारण प्रेस का भी कार्य नियमित रूप से न चल पाने के कारण नवम्बर का यह अंक विलम्ब से प्रकाशित हो पाया है। इस विलम्बता के लिए हम सिद्धयोग के सभी पाठकों और ग्राहकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

—व्यवस्थापक
कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

नवम्बर १९८४

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क ८

नवम्बर
१९८४

ध्यायं ध्यायं परिह्र परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो भूयोभूयश्च विचरतो, मुक्तिमाप्नोति शक्तः।
तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
मन्मानसं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

❀ मा मुक्षीय अमृतात् ❀

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीयमामुतः॥

यजु० ३।६०

अर्थात्

हम सभी लोग (त्र्यम्बकम्) सब रूप जगदीश्वर की जो शुद्ध गंधयुक्त शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ाने वाला (पुष्टिवर्द्धनम्) है, उसकी स्तुति करें ताकि उसकी कृपा और शक्ति का सहारा पाकर पके हुए (उर्वारुक) खरबूजे के फल के समान मानो पूर्ण रूप से पक जाने पर अर्थात् निर्धारित आयु पूरी हो जाने पर देहरूपी लता (बन्धन) से सहजतया छूट जायें, पर अमृत रूपी मोक्ष से कभी न अलग हों। निरंतर (पतिवेदनम्) रक्षा करने वाले जगदीश्वर का ध्यान करते रहें ताकि इस शरीर बन्धन से छूटकर मोक्ष रूपी अमृत को प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से विलग हो जायें।

हमारा विशेष लेख—

❈ तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ❈

✿ योग-योगीश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जीवन को समाधि के परमानंद से पूर्ण करने के लिए तथा समाधि द्वारा पुनरपि जननम् और पुनरपि मरणम् की भव-व्याधि से छूटकर मोक्ष पद प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम जिस साधना की आवश्यकता पड़ती है वह है, आचार निर्माण की साधना। जो व्यक्ति अपने आचार अथवा चरित्र निर्माण की इस मूलभूत साधना में सफलीभूत हो पाते हैं निश्चित रूप से वे ही समाधि रूपी अनुपम आनंद-सागर में अवगाहन करने का सौभाग्य प्राप्त करके मनुष्य देह धारण करने के चरम लक्ष्य को पा लेते हैं। योग दर्शन में वर्णित यम-नियम रूपी महाव्रतों पर आरूढ़ होने का महत्वपूर्ण परामर्श साधक को इसीलिए चरित्र निर्माण की दृष्टि से ही दिया गया है। यम-नियम रूपी महाव्रतों पर आरूढ़ हुए बिना योगारूढ़ होने की कामना एक निरर्थक कल्पना ही कही जा सकती है। अहिंसा-सत्य अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह संज्ञक यमों और शौच सन्तोष, तपः स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान संज्ञक नियमों से नियंत्रित जीवन ही तो चरित्रवान जीवन कहकर पुकारा जा सकता है। यमों और नियमों की उपेक्षा करते हुए इनकी मर्यादा से बाहर जो जीवन जिया जाता है वही होता है अमानवीय जीवन। आसुरी जीवन, भोग-परायण जीवन और स्वार्थ परायण जीवन, अमानवीय जीवन के इतर नाम हैं। जहां स्वार्थ का, लोभ, मोह, क्रोध, काम और दर्प का हिंसा असत्य और परिग्रह का, छल, कपट ईर्ष्या एवं द्वेष का स्वच्छन्द साम्राज्य हो, वहां चरित्र को उन्नत और पावनतम् बनाने वाली निर्मल विचार गंगा का खुला प्रवाह हो ही नहीं सकता है। इस शुद्ध विचारवती भव्य भागीरथी को अपनी देह अयोध्या में बहाकर लाने के लिए निश्चय ही तुम्हें स्वयं भगीरथ बनना होगा। जब ऐसा होगा, तभी हो सकेगा शरीर में समाये हुए महा संहारक समर-संग्राम रूपी दुर्गुणों का संहार या सुधार।

भगवान पतञ्जलि देव ने-इसीलिए यह अनुभव करते हुए कि चरित्र मार्ग ही मनुष्य मात्र के कल्याण और उद्धार का एक मात्र उपाय है, अपने योग दर्शन में योगारूढ़ बनने के लिए योग के आठ अङ्गों का विधान

लिया है। यम-नियम इन्हीं आठ अङ्गों में से प्रमुख और महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। जो भी व्यक्ति अपने जीवन और व्यवहार में इन यम-नियम रूपी महाव्रतों को धारण कर लेता है वह मनुष्य ही नहीं किन्तु मनुष्य से ऊपर देवत्व की श्रेणी में पहुँच कर मोक्ष का भागी बन जाता है। श्री मद्भगवद्गीता में जिस दैवी सम्पदा का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने किया है वह इन यम-नियमों में समायी हुई है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान जैसे महाव्रत यदि हम सबके आचरण में आ उतरें तो फिर लोभ मोह मद-मान, भय, राग द्वेष, तनाव आदि दुर्गुण रहेंगे ही कहाँ? इन यम-नियम रूपी महाव्रतों के पालन में देश विशेष या काल विशेष की भी कोई रुकावट नहीं क्योंकि यह चाहे जिस स्थान पर चाहे जिस काल में धारण किये जा सकते हैं। इसीलिये जाति देश और काल से आबद्ध न होने के कारण सार्वभौम महाव्रतों की संज्ञा इन्हें दी गई है। स्त्री हो या पुरुष बिना किसी हिचक के इनका परिपालन समान रूप से कर सकते हैं। विश्व के सभी निवासी फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र के क्यों न रहते हों यदि इन यम और नियमों के अनुसार अपना आचार-व्यवहार बनायें तो फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर छोटे-बड़े युद्धों का खतरा रहेगा ही कहाँ? सर्वत्र दुःख दैन्य से रहित समानता और सुख शान्ति का वातावरण ही दृष्टिगोचर होगा। लेकिन दुर्भाग्य है कि विश्व के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान—व्यक्ति-व्यक्ति के आचरण निर्माण के हित में बनाये गये ऐसे सर्वोत्तम सिद्धान्तों की ओर जा ही कहाँ रहा है। भारत के ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित ऐसे सिद्धान्त और नियम जिनसे संसार शाश्वत शान्ति पा लेने का लाभ उठा सकता है उन राष्ट्र नायकों से उपेक्षित और अनदेखे से पड़े हैं जो आज विश्व शान्ति की ओर मानवता की रक्षा के नाम पर बड़ी-बड़ी व्यय-साध्य योजनायें बनाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संघ अपने खरबों का बजट बनाकर सभी अविकसित और विकासशील देशों को इस आशय से प्रचुर धन दे रहा है कि दुनिया के धरातल पर रहने वाले सभी मनुष्य स्वस्थ और रोग रहित जीवन जी सकें। लेकिन वह इस सच्चाई की उपेक्षा कर जाता है कि विश्व के समस्त मानव समुदाय की दृष्टि से अगर स्वस्थ और सबल तन भी बन जायें तो भी मानवता का भला तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मानसिक दृष्टि से मनुष्य को स्वस्थ, सबल और चरित्र निष्ठ न बनाया जावे।

ऐसी सर्वहितकारिणी विश्वव्यापी योजना अगर किसी ने बनाई है तो वह बनायी है भारत के योगियों, ऋषियों और

मुनियों ने। यम-नियमों की साधना को आत्म सात करने तथा तदनुसार जीवन व्यतीत करने का परामर्श इसी विश्वव्यापी कल्याणकारी योजना का प्राथमिक सोपान है। जो इस सोपान पर चढ़ना जान लेते हैं वे न केवल अपना कल्याण कर पाते हैं वरन् संसार के इतर प्राणियों के कल्याण में भी सहायक बन जाते हैं। स्वर्ण जैसा आभावान् और फौलाद जैसा सुदृढ़ चरित्र यम-नियमों की परिपालना के अतिरिक्त और कम ही कोई और किससे बनता है। ब्रह्मचर्य इसी साधना का एक अङ्ग है, जो ओज तेज बल बुद्धि आदि की वृद्धि का मुख्य आधार रहता है। यम-नियम की साधना को अपनाने के लिए किसी धन अथवा प्रचुर श्रम की भी आवश्यकता नहीं आवश्यकता है केवल व्यक्ति के सुदृढ़ रहने की और संकल्प के शिथिल न होने की।

इन महाव्रतों की साधना का संकल्प लेकर साधक उससे विरत न हो इसके लिए मन की सहायता लेना अनिवार्य रहता है। क्योंकि मन ही तो पुरुष की सारी गतिविधियों का एकमात्र संचालक होता है। यस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते—जिसके बिना किसी भी कार्य को किया ही नहीं जा सकता है, ऐसा कथन वेद-संहिताओं में भी मिलता है। वैदिक मन्त्रों में मन की ऐसी अनिवार्यता और प्रभु-सत्ता की महत्ता को समझकर ही प्रत्येक मनुष्य को भगवान वेद ने यह आदेश और उपदेश दिया है कि वह नित्य प्रति 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' इस सूत्र को अपने ध्यान और जप का विषय बनाले। ऐसा करने से उसे अपने मन को अच्छे, भद्र और कल्याणकारी शुभ विचारों से भरा रखने की प्रेरणा सदा प्राप्त होती रहेगी। जब मनुष्य का मन शुभ और शिव संकल्पों से भरा रहेगा तो वह निश्चय ही कुपथगामी न बनकर सदा सुपथ पर ही चलने की चेष्टा करता रहेगा। 'अग्ने नय सुपथा राये'—अर्थात् 'हे ज्योतिर्मय प्रभु तुम हमें सुपथ पर ले चलो'—यह प्रार्थना तभी सफल और सार्थक हो सकती है जब प्रार्थी साधक का मन शिव-संकल्पों और भद्र भावनाओं से भरा पुरा हो। अनुचित काम, कपट, राग-द्वेष और मद-मत्सर आदि दोषों से आपूरित मन सुपथगामी हो ही नहीं सकता है। मन के सुपथगामी हुए बिना सत्कर्मों का सम्पादन और धर्म का पालन भी नहीं हो सकता इसीलिए वैदिक ऋषियों ने तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु का मूल मन्त्र हमें दिया और इसी दृष्टि से योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने—परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए योगश्चित्त वृत्ति निरोधः का प्रथम सूत्र दिया। वेदों के शिव संकल्प मन्त्रों में जिस तत्त्व को मन कहकर इंगित किया गया है उसी को योग दर्शन के सूत्रकार ने चित्त कहा है। चित्त कहिए अथवा मन

प्रभु से संवाद किस प्रकार ?

❁ ब्रह्मलीन योगी श्री योगानन्द जी महाराज

प्रेषक—श्री डा० विक्रमसिंह

प्रभु से वार्तालाप करना सुनिश्चित तथ्य है। आप एवं मैं भी परम प्रभु के साथ सम्वाद कर सकते हैं, एक पक्षीय नहीं अपितु सम्मुख का सम्वाद, जिसमें आप प्रभु से कहते हैं और प्रभु उसका सम्मुख प्रत्युत्तर देते हैं। निःसन्देह हर व्यक्ति प्रभु से सम्वाद कर सकता है।

इसमें सन्देह क्यों? दुनिया के सभी धर्म ग्रन्थों में प्रभु और मनुष्यों का बातचीत के प्रसंगों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है। ऐसी ही एक हृदयग्राही घटना बाइबिल में उल्लिखित है—रात में सोलमन के सामने भगवान प्रकट हुए। प्रभु ने कहा—'मुझसे जो कुछ भी पाना चाहते हो मांग लो।' सोलमन ने कहा—'अपने किंकर को विवेक से आलोकित हृदय दो।' भगवान बोले—'तुमने अपने लिए न दीर्घ जीवन मांगा, न धन-सम्पदा की याचना की और न शत्रुओं के

(पिछले पृष्ठ का शेष)

लिए उसका सांसारिक भोगों की ओर सतत् भागने के स्वभाव को शिव संकल्पों के केन्द्र-बिन्दु-परम प्रभु के ध्यान में लगा देने का स्वभाव बना लेना ही चित्त वृत्ति निरोध का अभिप्राय है। जो वृत्तियों का निरोध करके ईश्वराभिमुख हो जाते हैं वे चरित्रवान कहलाते हैं और ऐसे चरित्रवान व्यक्ति ही संसार में यश कीर्ति के भागी बनकर कैवल्य-सुख प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु इसके लिए जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं मन का परिष्कार आवश्यक है और इसके साथ ही आवश्यक है यम-नियमों के अंगों की भूमिका पर दृढ़ता से आरूढ़ रहना।

यही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति-व्यक्ति का और समाज, राष्ट्र और विश्व का भला हो सकता है। न अन्यपन्था विद्यते अयनाय। इसके अलावा अन्य कोई मार्ग हो ही नहीं सकता जिस पर शान्ति और सुख के साथ चला जा सके।

प्राण-तृप्ति की ही इच्छा की, अपितु मांगा नीर-क्षीर विवेक। देखो मैंने तुम्हारे शब्दों के ही अनुरूप ही कर दिया है। मैंने तुम्हें नित्यानित्य विवेक से सम्पन्न हृदय दिया और तुमने मुझसे जो वस्तुएँ वैभव और प्रतिष्ठा नहीं मांगी, वह भी मैंने तुम्हें दे दी है।'

डेविड ने अनेक अवसरों पर भगवान के साथ वार्ता की थी। वे प्रभु के साथ लौकिक विषयों पर भी विचार-विनिमय करते थे। डेविड ने भगवान से पूछा—'क्या मैं फिलिस्तीनियों के विरोध में अग्रसर होऊँ? क्या तुम उन्हें मेरे हाथों सौंप दोगे?' भगवान बोले—'तुम आगे बढ़ो, मैं उन्हें तुम्हारे हाथों सौंप दूँगा।'

रामहि केवल प्रेम पियारा।

अधिकतर आदमी प्रार्थना के समय केवल मस्तिष्क का प्रयोग करता है न कि हृदय के निश्छल भावना पुष्प का। ऐसी प्रार्थनाएँ उत्तर पाने में असफल रहती हैं। ईश्वर से वार्तालाप के समय हमारे अंतर निश्छलता और आत्मीयता की वैसी ही प्रतीति वांछित है जैसी माता-पिता से वार्तालाप के समय। ईश्वर के प्रति हमारे प्रेम में कोई शर्त नहीं होनी चाहिए। जब हम उस महाशक्ति को जननी के रूप में देखने लगते हैं, तब प्रत्युत्तर की मांग कहीं अधिक नैसर्गिक और अधिकार पूर्ण बन जाती है। ईश्वर ऐसी प्रार्थना का उत्तर देने के लिए बाध्य है क्योंकि वात्सल्य और क्षमाशीलता माता का सार-सर्वस्व है, भले ही शिशु कितना ही अपराधी क्यों न हो? माता और पुत्र का सम्बन्ध मानवीय प्रेम का परम-मनोहर रूप है जो हमारे लिए प्रभु-प्रदत्त है।

ईश्वर (प्रभु) विषयक निश्चित धारणा (किन्हीं बातों की) आवश्यक है अन्यथा व्यक्ति को स्पष्ट प्रत्युत्तर नहीं मिल पाता। प्रभु से उत्तर पाने की इच्छा तीव्र होनी चाहिए, अधूरे मन से की गयी प्रार्थना उसके लिए पर्याप्त नहीं। यदि तुम्हारा दृढ़ विश्वास हो कि प्रभु तुमसे बात करने वाले हैं चाहे कितने वर्षों से प्रभु तुम्हें उत्तर न दिया हो फिर भी उस उपेक्षा को न मानकर तुम उस पर भरोसा करते हो तो एक दिन तुम्हें उसकी ओर से उत्तर मिलकर रहेगा।

मैंने 'योगी-कथामृत' में उन असंख्य अवसरों में से कुछ का उल्लेख किया है जब प्रभु के साथ मैंने वार्तालाप किया था। ईश्वरीय वाणी सुनने का पहला अनुभव मेरे जीवन में तब घटित हुआ जब मैं छोटा बालक था। सवेरे के समय शैय्या पर बैठे ही बैठे मैं अतीन्द्रिय अनुभव में खो गया।

मेरे मस्तिष्क में महत्ता के साथ एक जिज्ञासा जाग्रत हुई कि मुंदी आँखों के पीछे क्या है? मेरी आभ्यंतर दृष्टि के सामने प्रकाश की कौंध एकाएक हुई। मेरे ललाट के

भीतर पर्वत-कंदराओं में पद्मासनासीन संतों की दिव्य आकृतियाँ प्रकाश के विशाल फलक पर मधुबिन्दुओं की तरह दृष्टिगत होने लगीं।

'तुम कौन हो?' मैंने ऊँचे स्वर में पूछा।
'हम हिमालय के योगी हैं।'

हिमालय के योगियों के दर्शन का वर्णन करना दुष्कर है। मेरा मन पुलकित था। दृश्य लुप्त हो गया किन्तु रजत रेखाएँ अनंतता के विस्तारोन्मुख पथ में प्रवृत्त हो गयीं।

'यह अद्भुत कांति क्या है?' मैंने कहा।
'मैं ईश्वर हूँ, मैं प्रकाश हूँ।' मेघों की गड़गड़ाहट जैसी ध्वनि हुई। मेरी माता तथा पत्नी उस समय मेरे निकट ही थीं जिस समय मुझे यह आत्मिक अनुभव हुआ। उन्होंने ने भी वह दिव्य वाणी सुनी। ईश्वर का प्रत्युत्तर सुनकर मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि मैंने वहीं और उसी समय तय कर लिया कि जब तक मैं ईश्वर के साथ एक रूप नहीं हो जाता, ईश्वर के लिए मेरी खोज जारी रहेगी।

अधिकतर लोग समझते हैं कि बन्द नेत्रों के पीछे सिर्फ अन्धेरा है किन्तु आध्यात्मिक रूप से ज्यों-ज्यों तुम्हारा विकास होता जायेगा तथा ललाट स्थित नेत्र पर तुम्हारा ध्यान केन्द्रित होता जायेगा, वैसे-वैसे तुम्हारी अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन होता जायेगा। तुम्हें एक नये संसार के दर्शन होंगे जहाँ अनंत प्रकाश और सौन्दर्य का निवास है। जिस तरह मेरे सम्मुख हिमालय के योगियों का दृश्य प्रकट हुआ उसी तरह तुम्हें भी संतों के दर्शन होने लगेंगे। अगर तुम्हारा ध्यान और गहरा होने लगेगा तो तुम्हें ईश्वरीय वाणी भी सुनाई पड़ने लगेगी।

हमें शास्त्र हमें बार-बार परमेश्वर की प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं कि प्रभु हमारे साथ सम्वाद करेंगे। 'जब प्रभु को तुम पूरे मन से खोजोगे, तो प्रभु को ढूँढ लोगे और प्राप्त कर लोगे।' जिस समय तुम प्रभु के साथ होते हो, ईश्वर तुम्हारे साथ होता है। अगर तुम उसे खोजोगे, वह तुम्हें मिल जायेगा किन्तु यदि तुम उसका परित्याग कर दोगे तो वह भी तुम्हें छोड़ देगा।' देखो मैं द्वार पर खड़ा हूँ और खटखटा रहा हूँ, अगर कोई प्रभु की वाणी सुनेगा और दरवाजा खोल देगा, तो हम दोनों साथ-साथ स्वल्पाहार भी लेंगे।

अगर तुम एक बार भी प्रभु के मौन को भंग करने में कृतकार्य हुए तो वह तुम्हारे साथ अवश्य बात करने लगेगा। हालांकि आरम्भ में यह बात कठिन है। ईश्वर के साथ परिचित हो जाना हँसी-खेल नहीं है। क्योंकि इस निश्चय पर वह पहुँचना चाहता है कि तुम सचमुच ही उसे जानने की आकांक्षा रखते हो। वह इस बात की परीक्षा लेता है कि भक्त उसे चाहता है अथवा अन्य किसी वस्तु को। जब तक तुम इस बात का विश्वास ईश्वर को नहीं करा देते कि तुम्हारे मन में अन्य की कोई इच्छा या लालसा छिपी हुई है कि नहीं जब वह समझ जाता है कि तुम्हारी कोई कामना नहीं है तब वह (प्रभु) तुमसे सम्वाद करेगा अन्यथा नहीं। अगर तुम्हारे हृदय में उसके उपहारों की कामना ही भरी हुई है तो वह तुम्हारे सम्मुख अपने स्वरूप का उद्घाटन क्यों करेगा?

ईश्वर के लिए मनुष्य का प्रेम ही एक मात्र भेंट है। सारी सृष्टि मानव परीक्षा के लिए बनायी गई है। हमारे सांसारिक व्यवहार से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि हमें ईश्वर प्यारा है या उसका उपहार भेंट। प्रभु तुमसे कहने नहीं आयेंगे कि उन्हीं की सर्वोपरि इच्छा करो, क्योंकि वह बिना अनुरोध के तुम्हारे प्रेम का इच्छुक बना रहता है। इस ब्रह्मांड लीला का यही रहस्य है। जिसने हमें जन्म दिया है वह हमारी प्रीति का इच्छुक है। वह चाहता है कि हमारा प्रति दिन का प्रेम बिना माँगे होना चाहिए। प्रभु के पास जिस चीज का अभाव है वह है हमारा प्रेम जो हमारे अर्पण के बगैर उसे मिल नहीं सकता। जब तक हम प्रेम उसे दे नहीं पाएंगे, हमें आनंद कभी नहीं मिल सकता। जब तक हम जिद्दी बालक की तरह इस पृथ्वी पर बिलबिलाते रहेंगे और दाता की उपेक्षा कर उसके दान के लिए चीखते-चिल्लाते रहेंगे तब तक विपत्तियों के अंधकार में हम गिरते ही रहेंगे।

ईश्वर हमारे अस्तित्व का सार है। जब तक हम उसे अपने भीतर अभिव्यक्त करना नहीं सीखते तब तक हम अपने आपको सच्चे रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यह सत्य है। हम स्वयं दिव्य हैं, भगवद् अंश हैं, इसीलिए किसी भी भौतिक पदार्थ में तृप्ति खोजने में असमर्थ हैं। 'जो मुझे आनन्द नहीं देगा, वह तुझे भी आनन्द नहीं दे सकता।' संसार में तुम्हें तब तक किसी भी पदार्थ में तृप्ति नहीं मिलेगी जब तक कि तुम ईश्वर में तृप्ति नहीं खोज लेते।

ईश्वर शरीरी है या अशरीरी?

ईश्वर शरीरी है या अशरीरी? इस प्रश्न पर थोड़ा सा विवेचन प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक सिद्ध होगा। अनेक लोगों को प्रभु के शरीरी रूप के सम्बन्ध में विचार करना ठीक नहीं लगता, उन्हें लगता है कि मानो इस परमेश्वर की अवधारणा सीमित है। वे प्रभु को अशरीरी चेतना, सर्वव्यापी सामर्थ्यवान् समझते हैं जो सृष्टि के लिए उत्तरदायी है।

यदि हमारा सृष्टा अशरीरी है तो मानव सृष्टि उसके द्वारा किस प्रकार सम्भव है? हम शरीरी हैं, हमारा व्यक्तित्व है। हम सोचते हैं, अनुभव करते हैं और संकल्प करते हैं। ईश्वर ने हमें न केवल दूसरों के विचारों और अनुभूतियों के मूल्यांकन की क्षमता दी है अपितु उनका प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य भी प्रदान की है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रभु(भगवान) की पारस्परिकता की भावना से शून्य नहीं है क्योंकि यह तो उनके अपने प्राणियों को अनुप्राणित करती है। जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं तो प्रभु हममें से हरेक के साथ वैयक्तिक नाता स्थापित कर सकते हैं।

ईश्वर के अशरीरी पक्ष पर विचार करने पर हमें ऐसा लगता है कि मानो वह कोई दूरवर्ती सत्ता है जो हमारे द्वारा समर्पित प्रार्थना तथा विचारों को प्रत्युत्तर के बिना ही ग्रहण कर लेती है, जो सर्वज्ञ होने पर भी निर्मम मौन बनाये रखती है। वेदांत की दृष्टि से यह उपपत्ति सदोष है। ईश्वर अशरीरी भी है और शरीरी भी—वह सब कुछ है। मनुष्यों को रचने वाला विधाता सम्पूर्णतया अशरीरी मात्र कैसे हो सकता है?

❊ मोह का क्षय मोक्ष ❊

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम–ए.

मानव देह बहुत दुर्लभ है। इसको पाने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं क्योंकि मनुष्य शरीर ही 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' माना गया है। इस रहस्य को कोई-कोई सौभाग्यशाली समझ पाता है। यह शरीर ही स्वर्ग और अपवर्ग की नसेनी अर्थात् सोपान है। यदि देव दुर्लभ मानव शरीर को पाकर इसमें ऐसी कमाई नहीं की कि इस शरीर से भी श्रेष्ठ शरीर के अधिकारी बन सकें अथवा जन्ममरण के कष्ट से छूट जायें, तो मनुष्य का जीवन व्यर्थ ही समझना चाहिये। मनुष्य का शरीर पाकर भी पशुओं तथा कीट पतंगों जैसी क्रियाओं में ही लगे रहे तो भी हीरे जैसे इस जन्म को मिट्टी में मिला देने की भूल हुई। समझदारी और चतुराई यही है कि इस शरीर को पाकर विमल ज्ञान के द्वारा जड़-चेतन की ग्रन्थि खोल दी जाय। इस ग्रन्थि का नाम अविद्या या माया है। इसका रूप मोह है। मोह बुद्धि का दोष है। इसे बुद्धि का रोग समझना चाहिये। ज्वर आने पर जैसे जीभ का स्वाद बिगड़ जाता है उसी प्रकार बुद्धि में जब मोह का रोग हो जाता है तो मन में संशय और भ्रम का साम्राज्य शुरू हो जाता है। जीवन के हर व्यवहार में भेदभाव पाखण्ड, दिखावा, छल, कपट, झूठ, धोखा षड्यंत्र भावना तथा स्वार्थ का बाहुल्य हो जाता है। इन क्रियाओं का प्रभाव मन चित्त और शरीर पर भी पड़ता है। मन में अपराध ग्रन्थि (Guilty Consciousness) हीनता ग्रन्थि (Infereority Coplex) संकोच, भय, घबराहट फिर उससे नाना प्रकार के हृदय रोग, अस्थि रोग, वीर्य सम्बन्धी रोग, उदर रोग बुद्धि और मन के विकारों को बाहर निकालने के लिए प्रगट हो जाता है। तनाव, दबाव, चिन्ता, अनिद्रा, भय, रक्तचाप के रोग, कैंसर, विक्षिप्तता हिस्टीरिया तथा सामाजिक अपराध की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। बुद्धि के एक रोग से सैकड़ों सम्बन्धित रोग जब प्रगट हो जाते हैं तो फिर व्यक्ति उन रोगों को दूर करने के लिए डाक्टर, वैद्य, हकीम ओझा, पीर, ज्योतिषी आदि के द्वार-द्वार पर मारा-मारा फिरा करता है। अपनी अपनी समझ से वे लोग गोली, कैप्सूल, इंजेक्शन, काढ़ा, अवलेह, अरिष्ट, भस्म, रस, मलहम, झाड़ फूंक, यंत्र-मंत्र आदि उपायों से इन रोगों को दूर करने

का प्रयत्न करते हैं। इस कार्य में व्यक्ति का रोग दूर हो या न हो उन लोगों की धन-दौलत अवश्य बढ़ती रहती है। एलोपैथी में भूल और प्रयत्न (Trial and error) के सिद्धान्त पर कृमि सिद्धान्त (Germ theory) का आधार लेकर चिकित्सा की जाती है, यही विचित्र बात है। ये लोग दवाइयों की खोज के लिए चूहे, बिल्ली, खरगोश, कुत्ते, गिलहरी, मेढक आदि पर प्रयोग करते हैं और साठ प्रतिशत सत्तर प्रतिशत सफलता को आधार मानकर कोई भी औषधि तैयार कर लेते हैं। पशु पक्षियों पर सफल पाये जाने प्रयोगों को विज्ञान सम्मत एवं मान्यता प्रदान मनुष्य पर लागू कर देते हैं। उसका क्या परिणाम होता है, यह सर्व विदित है। कोई भी एलोपैथिक औषधि ऐसी नहीं है जिसके आनुषंगिक विकार (Side effects) न होते हों। एक रोग ठीक होता है तो किसी नये रोग के लिए बीज तैयार हो जाता है। सम्मान प्रतिष्ठा तथा मतिभ्रम के कारण भारतीय चिन्तन में लोगों का विश्वास नहीं हो पाता। अभाव और अविश्वास के कारण वे अपने शरीर को भयंकर रोगों का आश्रय बना डालते हैं। फल यह होता है कि आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास। मनुष्य का शरीर इसलिए मिला था कि अविद्या तथा अज्ञान की ग्रन्थि को बुद्धि के प्रकाश से खोलकर अपने सहज सत् चित् आनंद स्वरूप में स्थित होकर दैहिक दैविक भौतिक तापों से सदा सदा के लिये विमुक्त हो सके। आयुर्वेद शास्त्र में रोगों के निदान एवं उनकी चिकित्सा की परम्परा विज्ञान है। उसका एक कारण है। आयुर्वेद का ज्ञान बाहर पशु पक्षियों के प्रयोगों पर कम आधारित है, ऋतम्भरा प्रज्ञा, विमल बुद्धि विवेक पर अधिक। हमारे मनीषियों ने प्रत्येक शास्त्र के पठन-पाठन की ऐसी परम्परा का विकास किया था जिससे जीवन के आर-पार देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। प्रत्येक अध्येता को यम नियमों, धारणा-ध्यान समाधि तथा गुरु भक्ति का अनिवार्य रूप से अभ्यास करना पड़ता था, जिसके फलस्वरूप उसमें विवेकज्ञान हो जाता था। क्या उचित है क्या अनुचित, सत्य क्या है? मिथ्या क्या है? यह सब उसे हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाता था। प्रकृति के सारे उपादानों के साथ एक रस होकर वह प्रकृति की जड़ी-बूटियों, धातु उपधातुओं तथा विभिन्न वस्तुओं का गुणधर्म एवं उपयोग अपनी अन्तर्बोधि (Intution) शक्ति से जान लेता था। जिसे मणिपूरक चक्र पर ध्यान करना आ जाता है वह औषधियों से बातचीत करने की सामर्थ्य वाला बन जाता है। हमारे शरीर में जो प्राण और अपान हैं वे ही अश्विनी कुमार हैं। उन्हीं से आयुर्वेद की उत्पत्ति हुई है। इसलिए आयुर्वेद में रोगों के निदान प्रसंग में रोगों का एक कारण 'प्रज्ञापराध' माना है। इसका अर्थ है बुद्धि के दोष

से होने वाले रोग। इस सिद्धान्त के आधार पर ही कर्मविपाक सिद्धान्त तथा कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ। बहुत से ऐसे रोग हैं जो बुद्धि के भ्रम संशय तथा अज्ञान के कारण होते हैं—यथा प्रकृति विरुद्ध आहार-विहार से होने वाले ज्वर, जुकाम, गठिया, आदि। दूसरे बुद्धि दोष से पूज्य लोगों का अनादर करने अथवा उनके शाप से होने वाले, कुष्ठ, क्षिप्तता, अन्धता, गंजापन, अर्श, प्रमेह, दमा आदि रोग हैं। ब्राह्मण को कष्ट देने, स्वर्ण की चोरी करने अथवा अपनी पूज्या अगम्या नारी के समागम के पाप से मर जाने से असाध्य रोग पैदा होते हैं। शास्त्रों में इसलिए इस प्रकार के रोगों के शमन के लिए, दान, पुण्य, पूजा, यज्ञ, मंत्र जप, स्नान आदि प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। आज का बेचारा इन्सान इस रहस्य को समझ नहीं पाता और जीवन भर 'हाय-हाय' और 'त्राहि-त्राहि' करता-करता निकृष्ट योनियों का पथिक बन जाता है।

शारीरिक और मानसिक रोगों की चिकित्सा सभी करना चाहते हैं किन्तु चित्त और बुद्धि के रोगों को पुण्यवान लोग ही समझ पाते हैं तथा इनकी चिकित्सा के लिए सचेष्ट हो पाते हैं। जो भी सद्गुरु के चरणकमलों में चञ्चरीक बन जाते हैं वे विविध क्रियाओं औषधि एवं मंत्रों से नीरोग होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लिया करते हैं। जब यथार्थ ज्ञान का आश्रय लेकर जीवन स्वचालित यंत्र की भाँति चल पड़ता है तब 'मोह जनित संशय सब हरना' हो जाता है। तत्व ज्ञान चौरासी लाख योनियों में से केवल मनुष्य शरीर में ही सम्भव है। मनुष्य का जन्म महान पुण्यों के फलस्वरूप मिल पाता है। जो मनुष्य को सबसे अधिक चाहता है, मानव को आदर देता है। तन-मन-धन से मनुष्य की सेवा करता है। मानवता को किसी कीमत पर भी नहीं छोड़ता। जो कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे किसी का चित्त दुखे। मन वाणी तथा कर्मों से पर उपकार के कार्य करता रहता है उसका मानव जन्म निश्चित है। जो सुगठित सुन्दर शरीर तथा कुशाग्र बुद्धि पाकर छल प्रपंच तथा पाप कर्मों में लगा रहता है उससे अभागा और कौन होगा। गरुड़ पुराण में मनुष्य के कर्तव्य का वर्णन किया गया है:—

चतुरशीति लक्षेषु
शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुषं विनाऽन्यत्र
तत्त्व ज्ञानं तु लभ्यते॥
सोपानभूतं मोक्षस्य
मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं
तस्मात्पापतरोऽत्र कः।

नरः प्राप्य उत्तमं जन्म
लब्ध्वा चेन्द्रिय सौष्ठवम् ।
न वेत्ति आत्महितं यस्तु
स भवेद् ब्रह्म घातकः ॥

कुछ लोग देहाभिमान के वशीभूत होकर शरीर को सजाने सम्भालने में अपने जीवन का अमूल्य समय नष्ट कर देते हैं। शरीर तो साधन है कुछ करने के लिए। अज्ञान के कारण वे लोग इसे ही साध्य समझ कर देह और गेह के सम्बन्धों में उलझे रह जाते हैं। ध्यान भजन के लिए घर के काम से फुरसत नहीं या खाने पीने से फुरसत नहीं। सुबह से शाम तक इस बार करते रहते हैं। वमन या विरेचन और उनको रोकने का इलाज करते रहा करते हैं। यह सत्य है कि शरीर पर ध्यान देना चाहिए। पर शरीर में ध्यान रखने से 'मैं शरीर हूँ' शरीरी नहीं हूँ यह देह बुद्धि परिपुष्ट होती है। देह विषयक मोह से देहाभिमान पैदा होता है। हम देह को ही आत्मा समझने लगते हैं और इसके सुखी दुःखी होने को ही आत्मा का सुख दुःख समझ बैठते हैं। शरीर की रक्षा इसलिए करनी चाहिए कि उससे धर्माचरण (जप, तप, संयम, व्रत, धारणा ध्यान समाधि) हो सके। धर्म इसलिए आवश्यक है कि उससे ज्ञान होता है। ज्ञान से ध्यान तथा योग की सिद्धि अर्थात् 'तदा-स्वरूपेऽवस्थानम्'-यो. १/२ स्वरूप स्थिति होती है। गरुड़ पुराण में शरीर के रक्षणोपाय का यही उद्देश्य बताया गया है।

विना देहेन कस्यापि
पुरुषार्थो न विद्यते ।
तस्माद् देहं धनं रक्षेत्पुण्य-
कर्माणि साधयेत् ॥
रक्षयेत्सर्वदात्मानमात्मा
सर्वस्य भाजनम् ।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेत्
जीवन् भद्राणि पश्यति ॥
तद्गोपितं स्याद्धर्मार्थं
धर्मो ज्ञानार्थमेव च ।
ज्ञानं तु ध्यान योगार्थ-
मचिरात्प्रविमुच्यते ॥

अपने शरीर से हमें इतना मोह हो जाता है कि यह किसी काम न रह जाय तो भी इसे छोड़ना नहीं चाहते। जिसे गलत कुष्ठ हो गया हो, उस व्यक्ति से यदि पूछा जाय कि तुम इस शरीर को छोड़ना पसन्द करोगे तो वह यही कहेगा कि कुछ दिन और जीने दो। जो अपने शरीर को स्वस्थ नहीं रख सकता, उससे बढ़ पापी और कौन होगा। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि जो अस्वस्थ रहता है वह बहुत बड़ा पापी है, क्योंकि

आत्महित करने से वह वंचित रहता है। मनुष्य आत्महित स्वयं ही कर सकता है अन्य कोई कितना ही प्रियतम हो उसका कल्याण नहीं कर सकता। जब तक शरीर रोग रहित नहीं है तब तक योग कैसा? ध्यान की परिभाषा करते हुए एक स्थान पर रोगों को दूर करना ही ध्यान कहा गया है—'रोगापहृति-ध्यानम्'—सत्य है जब शरीर, मन, चित्त तथा बुद्धि के रोग नहीं रहेंगे तो शुद्ध सत्व का प्रकाश होगा। ज्ञान तथा ध्यान सत्वगुण के उद्रेक से ही होते हैं—'सत्वात्संजायते ज्ञानम्' गीता। जब तक देह जनित मोह दूर नहीं होता तब तक शारीरिक रोग दूर नहीं होते। 'देहाभिमानिनाम् अन्तर्मुखी वृत्तिर्न जायते' गरुड़ पुराण। अर्थात् देहाभिमान के रहते अन्तर्मुखी वृत्ति-धारणा-ध्यान-समाधि का लाभ नहीं हो सकता। मनुष्य शरीर में ही विष तथा अमृत विद्यमान है। मोह विष है जिससे यह जीव मृत्यु का ग्रास बनता है तथा सत्य अमृत है जिससे वह अजर अमर होता है।

अमृतं चैव मृत्युश्च
द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहात्
सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये क्लेश पंचक जीव के साथ मोह अज्ञान तथा कर्मवश लगे रहते हैं। मोह अस्मिता से उत्पन्न होता है। मैं भी हूँ इस अहं भाव से ममता जन्म लेती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ममता को 'तिमिर अंधियारी' कहा है जिसमें स्वार्थ और राग द्वेष के उल्लू बसते रहते हैं। मैं और मेरा, तू और तेरा सारे अनर्थ का मूल है। बस इसी में दुःख सुख की सृष्टि समाहित है। संसार में जितने भी झगड़े हैं, चाहे वे घर के अन्दर के हों अथवा राष्ट्र राष्ट्रों के मध्य के। सबके मूल में अस्मिता का भाव है अस्मिता का विलय अस्मितानुगत समाधि में होता है। उसमें अस्मिता का भाव सर्वव्यापक चेतना के साथ एकाकार होकर परिशुद्ध हो जाता है। इसी का उदात्तीकरण 'अहं ब्रह्मास्मि' का भाव है। यहाँ परिच्छिन्न अहं विराट् चेतना में विलीन हो जाता है।

अर्जुन को मोह का रोग ही लगा था। उसकी बुद्धि अपने को कर्ता भोक्ता मान बैठी थी, अतः कर्तव्य को देखकर वह काँपने लगा और मैं और मेरे सगे सम्बन्धी का भाव उसके मन पर छा गया जिससे वह कर्म विमुख होने लगा। उसकी विषम दशा देखकर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उसे बुद्धियोग, समत्व बुद्धि, स्थितप्रज्ञ, निष्काम कर्मयोग तथा ब्राह्मी स्थिति का उपदेश दिया। उपदेश से उसका मोह नष्ट नहीं हुआ तो उन्होंने अपना विराट् रूप दिखाकर दिव्य दृष्टि के द्वारा सृष्टि का सारा रहस्य उद्घाटित कर दिया कि मैंने ओंकार-

यह अपने को कर्त्ता मानता है। वस्तुतः वह निमित्त मात्र है। यदि इस तथ्य को समझकर कर्म करे तो उसे दुःख नहीं होता। जो कुछ हो रहा है और और जो कुछ होगा वह किसी अन्य सत्ता के विधान से होता है:—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।
और अन्यथा करइ न कोई॥

ज्ञान और ध्यान दोनों का संयोग हो जाता है तो संशय निवृत्ति हो जाता है और साधक में वैराग्य स्वतः आ जाता है। जब तक अनुभूति नहीं है तब तक शब्द ज्ञान भी बन्धन का ही कारण है। शास्त्रों में कोरे शब्द ज्ञान को शास्त्र वासना या 'ज्ञान बन्धुता' कहा है जिसके वशवर्ती होकर साधक का सूक्ष्म अहंकार परिपुष्ट हो जाता है। अर्जुन को अनुभूति पूर्वक जब विवेक ज्ञान हो गया। तो उसने स्वीकार किया कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः
करिष्ये वचनं तव॥

गीता/१८/७३

हे सर्व समर्थ गुरुदेव प्रभो! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और वास्तविकता का—(जगत् की नश्वरता तथा ईश्वर की नित्यता) ज्ञान हो गया है जिससे मैं सन्देह, संशय भ्रम से मुक्त हो गया हूँ और मेरी अपनी कोई कुछ नहीं रही। अब तो मुझे भली भांति समझ में आता है कि—दाता तू ही तू है। 'राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है'। इस प्रकार अखिल लोक पावन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग के द्वारा अर्जुन का बुद्धि-मोह दूर कर उसे आत्मवेत्ता बनाया।

यह जीव जब तक अविद्या, अज्ञान, मोह आदि जड़ प्रकृति के विकारों से आबद्ध है तब तक वह पशु है। भगवान पशुपति की कृपा से वह पाशमुक्त हो जाता है। पशुपति नाथ कृपाकर जब जीव को ज्ञानयोग देते हैं तभी वह चौबीस तत्त्वों से परे पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर मुक्त होता है।

चतुर्विंशति तत्त्वानि
पाशो हि परमेष्ठिनः।
तेषां मोचकश्चैकः
शिवो जीवैरुपासितः॥
निबध्नाति पशूने-
कश्चतुर्विंशति पाशकैः।

लिङ्ग पुराण ७८/२६

अविद्या पाँच प्रकार के पाशों से जीव को विमोहित करती है।

तमो मोहो महामोहस्ता-
मिस्र इति पण्डिताः।
अन्धतामिस्र इत्याहुः
अविद्यां पंचधास्थिताम्॥

वही ३०

अविद्यां तम इत्याहुर-
स्मितां मोहं तथापरे।
महामोह इति प्राज्ञा
रागं योग परायणाः ॥३२॥
द्वेषं तामिस्रमित्याहु
रन्धतामिस्रमित्यपि।
तथैवाभिनिवेशं च
मिथ्या ज्ञानं विवेकिनः॥

अविद्या अस्मितादि नाम से जो पाँच क्लेश योग दर्शन में कहे गये हैं उन्हीं को अन्य शास्त्रों में तम-मोह-महामोह-तामिस्र और अन्धतामिस्र कहा गया है। देहादि अनात्म पदार्थों में आत्माभिमान करना ही तम या अविद्या है उसे अस्मिता या मोह भी कहते हैं। राग महा मोह है जिसका उच्छेद योगाभ्यास के बिना नहीं होता। द्वेष को तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहते हैं। विषय के विघात होने पर जो क्षोभ होता है वह तामिस्र है और ममता के आधार तथा [illegible] के नाश के अभिनिवेश को अन्धतामिस्र कहते हैं। यही मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। तम या अविद्या के आठ भेद हैं तथा मोह भी आठ प्रकार का होता है। महामोह दस प्रकार का है। अन्धतामिस्र अठारह प्रकार का है। इसी प्रकार तामिस्र के भी अठारह भेद कहे गये हैं। इस प्रकार मोह के कुल ८० प्रकार हैं। इन सबकी निवृत्ति—शाम्भवी योग के अभ्यास से हो सकती है। भगवान शंकर की कृपा से जब योगसिद्धि हो जाती है तो बुद्धि में विवेक ज्ञान उदित हो जाता है।

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

इस सिद्धान्त के अनुसार जब साधक भगवान शिव का ध्यान करता है तो भगवान शिव के ज्ञान-ऐश्वर्य, वैराग्य तथा लोक कल्याण के गुण साधक में भरने लगते हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदनात्' इस योग सूत्र में जिस काल से परे सत्ता का संकेत किया गया है वह सत्ता शिव ही है जो गुरुओं के भी गुरु हैं। प्रणव ॐ उस परमसत्ता सदाशिव का वाचक है। भगवान पशुपति शिव के पवित्र ॐकार स्वरूप नाम का जप और ध्यान 'पाशुपत योग' या शाम्भवी योग कहा जाता है इस योग से जीव क्लेश-पाशों से शीघ्र मुक्त हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस शरीर में रहते हुए भी वह शिव स्वरूप आत्मा त्रिगुणातीत है जो प्रकृति और पुरुष के तत्त्व विभाग को जानकर उस ज्ञान में रमता है वह मोह ग्रसित नहीं होता है—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च
भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो
देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
गीता १३/२२

य एवं वेत्ति पुरुषं
प्रकृतिं च गुणैः सह।

सर्वथा वर्तमानोऽपि
न स भूयोऽभिजायते ॥
गीता/२३

जब तक बुद्धि सतोगुणी नहीं बनती तब तक आत्म तथा अनात्म पदार्थों का विवेक-ज्ञान नहीं हो पाता। बुद्धि में तमोगुण की अधिकता बढ़ने पर मोह का जन्म होता है। जैसा कि गीता में गुणत्रय विभाग के प्रसंग में कहा गया है—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च
प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते
विवृद्धे कुरुनन्दन ॥
१४/१३

तमोगुणी आहार तथा तमोगुणी कर्मों से बुद्धि तमोगुणी हो जाती है जिससे यथार्थ ज्ञान तथा सत्कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। जिससे साधक निरन्तर विमूढ़ शोक, रोग तथा दुःख भोगता रहता है। जो साधक इष्ट ध्यान में संलग्न रहता है, उसकी बुद्धि यथार्थानुभव करने वाली बन जाया करती है। बुद्धि के दोषों को निवृत्त के लिए माँ सरस्वती के मंत्र का जप तथा शुक्लाम्बरावृतना स्वरूप का ध्यान करना उत्तम औषधि है।

बुद्धि में जब तक आत्म तत्व की पूर्णानुभूति रहती है तब तक मोह मद काम पास नहीं फटकते। जैसे ही अपने अहंकार के वशर में मन पहुँचा कि तर्क, संशय भ्रम, अनात्मा इस जीव को घेर लेते हैं। जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं वहाँ मोहादि विकार प्रवेश नहीं कर पाते। ऐसे पवित्र स्थानों में रहकर यदि साधना की जाय तो शीघ्र बुद्धि के मल दूर हो सकते हैं। महा पुरुषों की कृपा प्राप्त करने पर ही यह सम्भव है। कोई यदि उनका वहाँ समय रहे तो कृपा वृष्टि के बावजूद भी खाली का खाली बना रह सकता है। पात्रता होना नितान्त आवश्यक है। यद्यापि जीवन धना में तो उनकी कृपा से पात्रता भी बन जाती है। रामचरितमानस में काकभुशुण्ड जी के आश्रम वर्णन प्रसंग में भगवान शिव कहते हैं।

मायाकृत गुन दोष अनेका।
मोह मनोज आदि अबिबेका॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं।
तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥

काकभुशुण्ड जहाँ नित्य निरन्तर भजन, पूजन, कीर्तन तथा ध्यान किया करते थे। अतएव वहाँ की प्रकृति तथा पर्यावरण में सर्वत्र सात्विक तेजोमय परमाणु व्याप्त थे। वहाँ जो भी पहुँच जाता उसे भी वे परमाणु अभिभूत कर देते थे। उस आश्रम में जाकर ही गरुड़ का मोह दूर हुआ। यही विदित की बात है कि—

गरुड़ महाग्यानी गुन रासी।
हरि सेवक अति निकट निवासी॥

उन्हें अधम जाति के मांसाहारी पक्षी के पास क्यों जाना पड़ा? गरुड़ की बुद्धि के रोग की दवा काग के पास थी। गरुड़ को अभिमान हो गया था, उसका निवारण अधम के आगे समर्पण करने से ही हो सकती थी। भगवान श्री राम ने रणक्रीड़ा के रूप में अपनी लीला की। इन्द्रजीत के नागपाश में अपने आप को बंधवा लिया। नारद मुनि ने गरुड़ से कहा— हे पक्षिराज! तुम्हें नागों को नष्ट करने का शाप प्राप्त है अतः चलो समर्थ प्रभु के बन्धन काट दो। गरुड़ ने बन्धन काट दिये किन्तु उनकी बुद्धि में अनेक प्रकार के प्रश्न चिह्न उठने लगे। वे भूल गये कि भगवान का चरित्र तर्क का विषय नहीं होता वह तो आराधना का विषय होता है—

चरित राम के सगुन भवानी।
तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी।
रामहि भजहिं तर्क सब त्यागी॥

गरुड़ यह बात भूल गये क्योंकि उनके मन में अपने पुरुषार्थ का अहंकार जाग गया था। तुलसीदास जी लिखते हैं—

बन्धन काटि गयो उरगादा।
उपजा हृदय प्रचण्ड बिषादा॥
प्रभु बन्धन समुझत बहु भाँती।
करत बिचार उरग आराती॥
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।
माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं।
देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भव बन्धन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

उ० काण्ड ५८

नाना भाँति मनहि समुझावा।
प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा॥
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई।
भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाई॥

भगवान शंकर पार्वती जी को गरुड़ का चरित्र सुनाते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार पूर्व जन्म में वनवासी राम को देखकर तुम्हें भी मोह हो गया था उसी प्रकार गरुड़ की बुद्धि भी स्थिर प्रज्ञता से भ्रष्ट हो गई, हृदय में शोक दुःख का निवास हो गया। गरुड़ देवर्षि नारद पर गये और उन्होंने अपने तर्क एवं संशय नारद से कह दिये। नारद जी समझ गये कि गरुड़ बुद्धि का रोगी हो गया है। उनके हृदय में गरुड़ की विपन्न स्थिति देखकर दया आ गई। नारद जी ने गरुड़ को समझाया कि प्रभु की माया बड़ी प्रबल है—

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई।
बरिआईं बिमोह मन करई॥
जेहिं बहु बार नचावा मोही।
सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥
महामोह उपजा उर तोरे।
मिटहि न बेगि कहे खग मोरे॥

गीता में भगवान श्री कृष्ण भी यही कहते हैं

कि मेरी माया बड़ी विचित्र है। इससे बचना बड़ा कठिन है। जो मेरी शरण में आ जाते हैं उन पर यह माया अपना प्रभाव नहीं दिखाती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते।

नारद जी ने गरुड़ को ब्रह्मा जी के पास चिकित्सा के लिए भेज दिया। ब्रह्मा जी विचार करने लगे—नारद भी इस माया से हार गये, जिससे वे कामातुर होकर विवाह करने लगे थे। इस माया ने मुझे भी अपना प्रभाव दिखाया है—

हरि माया कर अमित प्रभावा।
बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥
अग जगमय जग मम उपराजा।
नहिं आचरजु मोह खगराजा॥

ब्रह्मा जी चक्कर में पड़े और सोचने लगे—क्या करें। उन्होंने सोचा गरुड़ को भगवान शिव के पास भेज दें—क्योंकि वे ज्ञानी, ध्यानी, वैराग्य की साकार मूर्ति हैं उनकी कृपा से जीव ब्रह्म स्वरूप प्राप्त कर लेता है जिससे तीनों तापों से सदा सदा के लिए मुक्त हो जाता है। ब्रह्मा जी ने गरुड़ को सलाह दी—

बैनतेय संकर पहिं जाहू।
तात अनत पूछहु जनि काहू॥

गरुड़ ब्रह्मा जी का आदेश शिरोधार्य कर भगवान शिव के पास गये। भगवान शिव कुबेर के पास जा रहे थे। मार्ग में गरुड़ से भेंट हो गई। गरुड़ ने सविनय प्रणाम कर अपनी सब व्यथा कह सुनाई। भगवान शिव ने कहा मार्ग चलते ज्ञान नहीं दिया जाता तथापि तुम्हारी व्यथा देखकर मुझे दया आ रही है। तुम जाकर नित्य नियम से सत्संग करो।

तबहिं होइ सब संसय भंगा।
जब बहुकाल करिअ सतसंगा॥
नित हरि कथा होत जहँ भाई।
पठवउँ तहाँ सुनहु तुम जाई॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा।
राम चरन होइहि अति नेहा॥

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

भूतभावन महेश की यह बात सुनकर पार्वती जी बोलीं कि हे ज्ञान निधान! आपने ही गरुड़ को निर्मल ज्ञान क्यों नहीं दे दिया जिससे उस बेचारे का मोह दूर हो जाता। क्यों उसे इतने चक्कर में डाला? भगवान बोले:—

तातें उमा न मैं समुझावा।
रघुपति कृपा मरमु मैं पावा॥
होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना।
सो खोवै चह कृपा निधाना॥
कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा।
समुझइ खग खग ही कै भाषा॥
प्रभु माया बलवन्त भवानी।
जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥

ग्यानी भगत सिरोमनि
त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर
पाँवर करहिं गुमाना॥
सिव बिरंचि कहुँ
मोहइ को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं
मुनि मायापति भगवान॥

जैसा रोग वैसा ही इलाज ठीक रहता है काकभुशुण्ड भी अभिमान के रोग से ग्रस्त होकर सतत् भजन की दवा का सेवन कर रहे हैं। उन्हें देखकर गरुड़ की पूर्ण रूपेण श्रद्धा और जिज्ञासा हो जायेगा। त्रिभुवन पति के पास रहने पर भी मोह ने घर दबाया तो शंकर जी के मात्रिक ज्ञान से मोह दूर कैसे हो सकता था? भगवान शंकर हर समय इसीलिए जप करते रहते हैं कि माया मोह न आ जाये। राम कृष्ण परमहंस कहा करते थे कि जल पर काई न छा पाये तभी सूर्य का प्रतिबिम्ब स्वच्छ जल में दिखाई देगा। अतः हरक्षण काई हटाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह प्रयत्न जप और ध्यान है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्'। जप और ध्यान, ध्यान और जप यही सार है जीवन की साधना का। इससे अविद्या जन्य मोह आदि की काई हटती रहती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में इसीलिए आदेश देते हैं कि श्वास-प्रश्वास में नित्य निरन्तर मेरा जप तथा ध्यान करते हुए कर्मरत रहोगे तो मोह का क्षय हो जायगा तथा जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लोगे—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु
मामनुस्मर युध्य च।

गरुड़ ने जब भक्त प्रवर काक भुशुण्डि से राम कथा का श्रद्धा के साथ आद्योपान्त श्रवण मनन निदिध्यासन किया तो उनके हृदय की ग्रन्थि खुल गई। सभी सन्देह भ्रम तथा विकलता नष्ट हो गईं। गरुड़ कहने लगे:—

गयउ मोर सन्देह,
सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भयउ राम पद नेह,
तव प्रसाद बायस तिलक॥

जिन्हें मोह का रोग हो जाता है उन्हें आत्मानुभूति नहीं हो पाती। अनेकों साधक जीवन भर भजन, कीर्तन, जप, प्राणायाम तथा अन्यान्य साधना करते रहते हैं किन्तु उनके हृदय में आनन्दानुभूति नहीं हो पाती। उनका चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। ऐसे साधक ममता और मोह के रोग के रोगी होते हैं उन्हें हरिकथा तथा कीर्तन एवं सत्संग से अपने रोग का इलाज कर लेना चाहिए भगवान मोह के कारण का सूक्ष्म विश्लेषण रामचरित मानस में करते हुए कहते हैं—

सुनि मुनि मोह होइ मन ताकें।
ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें॥

ज्ञान और वैराग्य के अभाव में मोह का भयंकर रोग हो जाता है। जो साधक ज्ञान

तथा वैराग्य के बिना साधना करते हैं वे काम, क्रोध, लोभ, मोह के चक्कर में पड़े रह जाते हैं। ज्ञान तब तक सत्य ज्ञान नहीं है जब तक उससे वैराग्य न हो जाय। ज्ञान है—सत्यार्थ का स्पष्ट दर्शन। सत् असत् का, यथार्थ अयथार्थ का, कर्म अकर्म का बोध होना ज्ञान है। ज्ञान हो जाने से ही मोक्ष नहीं हो जाता। ज्ञान वह है जिससे अभिमान न रहे, संशय और भ्रम न रहे। नित्य और अनित्य, नाशी अविनाशी का स्पष्ट विवेक हो जाय। ज्ञान का फल वैराग्य होता है। वैराग्य दो प्रकार का होता है—पर तथा अपर। योग-दर्शन में वैराग्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—'दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।' १/१५। लौकिक तथा स्वर्गीय सुखों की लालसा मन से बिल्कुल निकल जाय तभी वैराग्य सार्थक होता है। दृष्ट विषय वे कहलाते हैं जो इन्द्रियों के माध्यम से मन को सुख रूप लगा करते हैं। जैसे सुन्दर स्त्री, बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन तथा ठाठबाट से रहन-सहन। आनुश्रविक वे विषय कहलाते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष तो नहीं देखा किन्तु दूसरे शास्त्रादि माध्यमों से सुन रखे हैं। जैसे स्वर्ग में अप्सराओं की प्राप्ति, मनोऽभिरम, विकरणभाव आदि अलौकिक सिद्धियों का भोगसुख आदि। इन भोगों को प्रकृति के त्रिगुणात्मक विकार समझकर जब मन कामना रहित हो जाता है तभी वैराग्य निष्पन्न होता है। गोस्वामी जी वैराग्य का स्वरूप संक्षेप में बताते हैं—

कहिय तात सो परम विरागी।
तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

गीतामें गुणातीत तथा निर्गुण अवस्था का जो निरूपण किया गया है वह वैराग्य की व्याख्या है, त्याग का कार्य वैराग्य का एक लक्षण है। जो कुछ और नहीं चाहता, अपने इष्ट को ही चाहता है उसके जीवन में वैराग्य आ जाता है॥

जिनहि न चाहिय कबहुँ कछु।
तुम सन सहज सनेहु॥

वैराग्य आने पर विषयों में दोष दिखाई पड़ने लगते हैं। अन्त में यह स्थिति आ जाती है कि गुण दोष दोनों ही हेय हो जाते हैं। सुख दुःख, हानि लाभ, रागद्वेष सभी में सम-बुद्धि हो जाती है। प्रथम वैराग्य को—वशीकार वैराग्य कहा जाता है। दूसरे प्रकार के वैराग्य में बुद्धि विषयों के सुखदुःखात्मक, धर्माधर्मात्मक भेदों तथा गुणों से रहित विशुद्ध प्रकाशयुक्त होकर ज्ञान के प्रसाद का अनुभव करती है उस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव हो जाता है। वैराग्य विषयों के उद्गम स्रोतों को क्षीण कर देता है, समाधि के अभ्यास से प्रकृति के गुणों का गुणों में लय हो जाता है। विवेक ज्ञान का उद्घाटन हो जाता है। विवेक के द्वारा साधक जड़ चेतन की गांठ खोल देने में समर्थ हो पाता है। वैराग्य से क्लेश कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा

अन्त में बुद्धि भी अपने कारण मूल प्रकृति में अस्त हो जाती है। यही मोह क्षय की अवस्था है। अविद्या ही मोह था। जब वह नष्ट हो गया तो बुद्धि मन, चित्त, अहंकार ये चारों निष्प्रयोजन होने पर नष्ट हो जाते हैं। भगवान व्यासदेव भी कहते हैं कि इसके नष्ट होने पर पुरुष फिर दैहिक, दैविक भौतिक तापों से दग्ध नहीं होता—'तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते।' त्रिगुण ही कर्म क्लेश तथा तद्विपाक—जाति आयु तथा भोग जनक थे। जब वे ही नहीं रहे तो उनका कार्य कैसे रह सकता है। झगड़े का कारण शत्रु है। शत्रुओं के मरने पर उनका कार्य झगड़ा स्वतः खत्म हो जायगा। 'पुरुषस्य आत्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् तथा स्वरूप प्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति।' व्या. भा. पुरुष का गुणों से सदा सदा के लिए वियोग हो जाना ही स्वरूप अवस्था या कैवल्य है। पुरुष का केवल स्वरूप में स्थित हो जाना ही कैवल्यभाव है।

शब्द ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं होता। जो ज्ञान स्वानुभूति से जन्य होता है वही मोक्ष प्रद होता है। स्वानुभूति जन्य ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य—अर्थात् गुणातीत अवस्था की ओर ले जाती है। एक पण्डित जी उनको श्रीमद्भागवत सुनाया करते थे। दर्शकों में एक ठाकुर साहब नित्य आकर बैठा करते। पण्डित जी उनको सम्बोधन करके पूछते-क्यों ठाकुर साहब कुछ आया समझ में? ठाकुर साहब नकारोक्ति की मुद्रा में सिर हिला दिया करते। एक दिन प्रातः काल जब भागवती पण्डित जी गाँव से लौट रहे थे तब उन्हें ठाकुर साहब गाँव से बाहर तेजी से जाते हुए दिखाई पड़े। पण्डित जी ने ठाकुर साहब से पूछा—क्यों आज कथा सुनने नहीं आओगे? सुबह ही तेजी से कहाँ चल दिये? ठाकुर साहब रुककर बोले—पण्डित जी आप प्रतिदिन मुझसे पूछा करते थे कि कुछ समझे? आज मेरी समझ में आ गया कि 'सब तजि हरि भजि।' मैं सब कुछ छोड़कर वही करने जा रहा हूँ। पण्डित जी! आपकी समझ में जब आ जाय तो आप भी सुनाना बन्द कर योग ध्यान करना। ठाकुर का ज्ञान वैराग्य का जनक बन गया क्योंकि वह स्वानुभूति युक्त था। पण्डित जी का ज्ञान शब्द ज्ञान था। उनका मन वैराग्य की कथा सुनाते हुए भी अपनी दक्षिणा में ही केन्द्रित था जबकि ठाकुर का मन शब्द के प्रतिपाद्य तत्त्व को ग्रहण कर उसका साक्षात्कार करने पर ही टिक गया। जो साधक अपने जीवन में मोह को जितना कम करता जाता है वह उतने ही आगे अपनी साधना के पथ पर अग्रसर होता जाता है। अम्बा सुमित्रा ने वनगमन की वेला में प्रेम-सागर लक्ष्मण को यही उपदेश दिया कि मन-

बन्धन कर्मों से,प्रभु की भक्ति करने से बढ़कर जीवन का कोई सुख नहीं है—

राग रोषु इरिषा मदु मोहू ।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई ।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥

रामचरित मानस के पात्रों में दो पात्र ऐसे हैं जिन्हें पर और अपर वैराग्य का मूर्तिमान् रूप कहा जा सकता है। एक हैं श्री लक्ष्मण जो निद्रा भूमि पर भी स्वीकार कर सेवारूपी तप में सतत संलग्न हैं। सेवा के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का लौकिक या स्वर्गीय सुख उन्हें अभीष्ट नहीं है। दूसरे ज्ञान मूर्ति परम भागवत श्री भरत हैं। वह राज ऐश्वर्य के मध्य इस प्रकार विषयों से निर्लिप्त रहते हैं जिस प्रकार जल में कमल रहता है। गोस्वामी जी ने इससे भी बढ़कर अनूठी उपमा दी है।

तहँ पुर भरत बसहिं अनुरागा ।
चंचरीक जिमि चम्पक बागा ॥

भौंरा चम्पक के पास जाने का मन में संकल्प तक नहीं करता। वैराग्य और अभ्यास की भूमिकाएं श्री लक्ष्मण और श्री भरत योग-मार्ग के साधकों के इष्ट हैं। जो साधक इन दोनों युग योगियों के जीवन चरित तथा लीलाओं का पाठ करेगा, उसके जीवन में वैराग्य का पदार्पण होगा तथा वह विवेक-ख्याति की ओर अग्रसर होता जायगा। कूटस्थ स्थिति का नाम ही प्रज्ञा प्रासाद है, जिस पर बैठकर साधक शोक मोह से मुक्त हो जाता है, जैसे पर्वत शिखर पर बैठा हुआ नीचे भूमि पर स्थित वस्तुओं को वस्तुतः में देखकर न आश्चर्य में पड़ता है और न आसक्त होता है उसी पर प्रज्ञा विवेक की प्राप्ति होने पर राग और मोह के द्वन्द्वों से साधक मुक्त हो जाता है।

श्री रामचरित मानस में निषादराज तथा श्री लक्ष्मण का सम्वाद साधना का सारसर्वस्व है। भगवान राम श्री लक्ष्मण एवं महेश्वरी श्री सीता को भूमि पर शयन करते देख भक्तराज निषाद को बुद्धि मोह ग्रस्त होने लगी और राजा दशरथ तथा मां कैकेई के कार्यों में दोष देखने लगे।

ध्यायतो विषयान् पुंसः
संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः
संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

गीता २/६२-६३

विषयों का चिन्तन करने से विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम,

काम की पूर्ति में बाधा उपस्थित होने पर क्रोध। क्रोध बुद्धि को भ्रमित कर देता है जिससे मोह पैदा हो जाता है। मोह से चेतन का स्मरण नहीं रहता। स्मृति नाश से जड़ता का आरोप होने के कारण मृत्यु हो जाती है। तो जब निषादराज को विषाद होने लगा, उस समय श्री लक्ष्मण ने उन्हें ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति का मर्म समझाया—

भयेउ विषाद निषादहि भारी।
राम सीय महि सयन निहारी॥
बोले लखन मधुर मृदु बानी।
ग्यान बिराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निजकृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
सम्पति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं।
मोह मूल परमारथ नाहीं॥

सपनेहु होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस बिचारि नहिं कीजिय रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसा सब सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहि जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

अयो०-९३

गंगा की धारा की भाँति जब अविच्छिन्न गति से ध्यान की एकाग्रता हो जाती है तथा मन बुद्धि चित्त अहंकार अखण्डैकरस चैतन्य के कारुण्यामृत सागर में निमज्जित हो जाते हैं तो ऐसे समाधिनिष्ठ योगी को मोह जनित संसृति दुःख व्यथित नहीं कर पाते। इस प्रकार की योगसिद्धि के एकमात्र आधार करुणा सिन्धु आनन्दकन्द श्री गुरुदेव श्री के चरण कमल हैं।

श्री गुरुपद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

हे प्रभो! आपके चरण कमल मेरे हृदय मन्दिर में हृदयाल दिव्य आलोक प्रदान करते रहें जिससे मोह का परिवार आपकी अहैतुकी कृपा से जलाते हुए इस दीप को विक्षेप न पैदा कर सके। आपकी कृपा से ही इस ज्ञान दीपक द्वारा जड़-चेतन की ग्रन्थि खोलकर मैं कुछ क्षणों में विचरण कर सकूँगा।

मन रूपी दर्पण

✍ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. बी. एड.

मन एक दर्पण के समान है। दर्पण का काम है वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध करा देना। दर्पण शब्द बहुत सार्थक है। जो दर्प अर्थात् घमण्ड भी न रहने दे वह दर्पण होता है। महाराजा दशरथ विजय कीर्ति और राज सत्ता के रसरंग में अपनी अवस्थिति भी भूले हुए थे। एक दिन उन्होंने हाथ में दर्पण लेकर गौर से देखा। दर्पण ने उनका अभिमान चूर-चूर कर दिया। उन्होंने देखा—

श्रवण समीप भये सित केसा।

कानों के समीप बाल सफेद हो गये हैं, मानो वृद्धावस्था का स्पष्ट संकेत हो रहा है। अब 'राम तजि हरिभज' का समय जान दशरथ के मन में विषयों से वैराग्यभाव का उदय हुआ। नारद जी विश्वमोहिनी के स्वयम्वर में बन-ठन कर बैठे हुए थे। उनके मन में गलत-फहमी थी, कि विश्व में वे सबसे अधिक सुन्दर हैं। अब हरि के गण उनकी ओर कनखियों से बार-बार देखकर मुस्कराते तो नारद जी को क्रोध आया। 'इन मूर्खों को ये सूझा कि मेरा मजाक उड़ाये?' अब उन्होंने दर्पण देखा तो 'मर्कट बदन भयंकर देही' बन्दर की आकृति देखकर तन बदन में आग लग गई और यथार्थ को स्वीकार करने की अपेक्षा निज अज्ञानवश भगवान विष्णु को शाप दे डाला। मन का दर्पण समस्त और परमेश्वर दोनों को दिखाने वाला होता है। ज्ञान रूपी नेत्रों से मनरूपी दर्पण में समस्त विश्व के कार्य तथा कारण सूक्ष्म तन्मात्रा, अन्तःकरण चतुष्टय मूल प्रकृति पर्यन्त सब कुछ देखकर निर्लिप्तता की ओर गमन किया जाता है। तभी जन्म-मरण तथा कर्म जाल की कारणभूता अविद्या का नाश होता है। अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष की स्थिति है।

जब आँखों से दिखाई न पड़ता हो तथा मन रूपी दर्पण भी मैला हो तो फिर स्वरूप की पहिचान कैसे हो सकती है। गोस्वामी तुलसीदास जी एक अर्धाली में मोक्ष का पूरा सिद्धान्त कह देते हैं—

नयन दोष मन मुकुर मलीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥

प्रभु दर्शन या आत्म साक्षात्कार के लिए दो आवश्यकताएं हैं एक बुद्धि सूक्ष्मग्राही वाली, विमल विवेक युक्त हो दूसरे मन विषयों की धूल से मलिन न हो। दोनों में से एक चीज की भी कमी होगी तो मार्ग मोक्ष में अटक

जायगी। दर्पण का स्वभाव वस्तु के रूप को दिखाना है। मन जब इन्द्रियों के साथ जुड़ जाता है तो इन्द्रियों को विषय लोलुप बना देता है जैसे मृग रेगिस्तान में रेत की लहरों को जल समझकर व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार मन विषयों में सुख शान्ति और आनन्द का आभास कर इन्द्रियों तथा बुद्धि को भ्रमित कर डालता है। दर्पण की एक और विशेषता है, दर्पण मुख देखने के काम आता है, यह आदर्श कहा जाता है। यह बता देता है कि कहाँ क्या कमी है? प्रायः मनरूपी दर्पण दूसरों के दोष देखने का काम किया करता है। सुबह से शाम तक हमारा मन रूपी दर्पण दूसरों के दोषों को देखने से मैला होता रहता है। मन का सबसे निकट का सहायक रसना है। मन के इशारे पर रसना भी परनिन्दा में बहुत रस लेती है। जब दो लोग मिलते हैं तो जब तक किसी के निन्दा के कुछ शब्द न कहलें तब तक चित्त को शान्ति नहीं हो पाती। आजकल निन्दा रस सबसे मधुर रस माना जाता है।

परनिन्दा सम अघ न गिरीसा।

इस अर्धाली के एक अंश में गोस्वामी जी ने कहा है कि परनिन्दा से दूसरे का कुछ भला नहीं होता हाँ अपना मन दूसरे के दोषों के सूक्ष्म परमाणुओं से अवश्य मैला हो जाता है। कुकुर का स्वभाव है कि वह दूसरों के दोष देखना जानता है अपने पीछे पीठ पर लगी हुई गन्दगी को नहीं जानता। यदि अपने दोषों को दर्पण देख सके तो मन की एकाग्रता तथा चित्त की शुद्धि आसानी से सम्भव हो सकती है। सन्त कबीर आदि ने इसी रहस्य को सीधे-सादे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

बुरा जो देखन मैं चला,
बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजूँ आपना,
मुझ से बुरा न कोय॥

अपनी पहचान ही सच्ची पहचान है। यही आत्म साक्षात्कार है अपने मन की जाँच पड़ताल, उठते, बैठते, सोते जागते, चलते-फिरते करते रहने से मन रूपी दर्पण में ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ेगा। जब तक मन रूपी दर्पण इस प्रकार न हो जाय कि बाहर और भीतर एक जैसा दिखाई पड़ने लगे मन-वाणी और कर्म में कोई अन्तर न रहे— तब तक मन पर कदापि भरोसा नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह मन बहुत बड़ा बहुरुपिया है। क्षण में ज्ञानी, क्षण में भोगी, क्षण में चोर और क्षण में साधु बनकर संसार चक्र घुमाता रहता है। जो कोई साधक श्री गुरु-चरणों की अनन्य भक्ति से इस मन को ठीक पहिचान लेता है वह इसके पीछे का मैल धोकर इसे पारदर्शक बना लेता है। जीवन्मुक्ति का आनन्द साधक मन में ही प्राप्त

होता है। राम चरित मानस में कहा है।

निरमल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

मन जब मलिन होता है तभी कपट, छल छिद्र, दम्भ, पाखण्ड आदि विकार घेर लेते हैं मन की मलिनता जब तक दूर नहीं होगी तब तक साधना सहज तथा सरल नहीं बन पाता। बिना सहज तथा सरल बने सहज एवं अविनाशी का साक्षात्कार नहीं हो पाता। गीता में भगवान ने दैवी सम्पत्ति के प्रसंग में साधक की एक दैवी सम्पत्ति 'आर्जव' बताई है। आर्जव का अर्थ है सरलता, निष्कपटता।

सहजं सहज मिलैं रघुराई।

जीवन्मुक्त के स्वरूप का विवेचन करते हुए योग शास्त्रों में शीशे की एक सुन्दर उपमा आती है। शिष्यों ने गुरुदेव से पूछा— 'प्रभु जीवन्मुक्त होने पर जीवन कैसा हो जाता है?' गुरुदेव ने कहा—"प्रिय! जिस प्रकार निर्मल दर्पण के पीछे रत्न की ज्योति रखी हो तो वह जैसे हर समय साफ-साफ झलकती है बाहर और उस आत्मा की ज्योति के बीच में शीशा-जीवन मन रूपी दर्पण का परदा (प्रारब्ध कर्मयोग) रहता है। लेकिन वह भी इतना निर्मल होता है कि लगता ही नहीं जैसे बीच में कोई परदा हो?" जो साधने मन-मुकुर को संस्कारों की गंदगी से हर समय झाड़-पोंछ कर साफ सुथरा बनाते रहते हैं उनका मन एक दिन ऐसा ही बन जाता है कि वे इस जीवन में ही योग की सविकल्प तथा निर्विकल्प भूमिकाओं में अपार आनन्द का अनुभव कर लेते हैं। ऐसे पुण्यात्मा जीवन्मुक्त बन जाते हैं।

मन की मलिनता कैसे दूर हो? इसकी मलिनता दूर करने के लिए लोग तरह-तरह के वेश बनाते हैं, व्रत, उपवास तथा तीर्थ करते हैं। इनसे कुछ कुछ सफाई होती है, यह भी तब जब इन साधनों में भीतर आस्था दृढ़ विश्वास हो। देखा देखी से कुछ अधिक लाभ नहीं होता। हाथी जैसे स्नान कर साफ हो जाता है फिर कुछ ही देर में सिर पर धूल डालकर जैसे का तैसा बन जाता है। उसी प्रकार तीर्थ व्रत करते समय मन लगता है जैसे पूर्ण स्वच्छ बन गया हो किन्तु मौका मिला नहीं कि परनिन्दा, विषय वासना, काम-क्रोध लोभ के पीछे कुत्ते की तरह भागने वाला मन बन जाता है। जब तक मन पर पूर्ण सद्गुरु की कृपा नहीं होती तब तक यह आत्म जीवन्मुक्त होकर योगाचारयुक्त नहीं बन पाता गोस्वामी जी मन मुकुर की सफाई का अनूठा उपाय बताते हैं—

श्री गुरुचरण सरोज रज,
निज मन मुकुर सुधारि।

शीशे की सफाई रजकणों से करते हैं उससे शीशा साफ चमकने लगता है। श्री गुरुदेव के

चरणकमल की रज से जब यह मन मुकुर माँजा जायगा तो इसकी मलिनता दूर हो जायगी। मन जितना कोमल और नाजुक है— शीशे से भी ज्यादा नाजुक है। किसी की याद में ही टूट कर बिखर जाता है—इसकी सफाई के लिए उसी तरह की कोमल रज चाहिए। कमल के पराग से कोमल क्या वस्तु होगी? श्री गुरुदेव के चरण कमलों के पराग से मन मुकुर साफ होगा। कैसे होगा? 'सुधारि' अच्छी तरह हृदय मन्दिर में चरणकमलों को धारण करने से। अपने मन को चरणकमल के पराग का लोभी भौंरा बना देने से। श्रीगुरु-चरणों का ध्यान करने से। क्योंकि ध्यान का मूल आधार 'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोर्पदम्।' श्री गुरुदेव के चरणकमल हैं। उनका चिन्तन व दर्शन ही मुख्य साधन और साध्य है। चरणकमल पूजा ही मूल में सिद्धि के हेतु हैं। गोस्वामी जी सिद्धयोगी थे। अतः उन्हें भगवान शंकर की माँ कृपा शक्ति के पास से—साधना के सभी रहस्य स्पष्ट अनुभव प्राप्त हो गये थे। उन्होंने सिद्धयोग के साधकों के लिए एक अचूक, अमोघ-रामबाण औषधि ढूंढ निकाली—श्री गुरुदेव के चरणों की निष्काम भक्ति ध्यान तथा गुरुपदिष्ट मंत्र का सतत जप। उसी से दिव्य दृष्टि पाकर साधक अपने मन चित्त तथा बुद्धि में संस्कार रूपों का दर्शन कर सारे संस्कारों को भोगकर धारणकर सकता है और इसी जन्म से जीव-न्मुक्त हो सकता है। श्री गुरुदेव के चरण-कमलों की रज नेत्रों को दिव्य दृष्टि प्रदान करने वाली है—

श्री गुरुपद नख मनिगन ज्योती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

तथा—

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥

नेत्रों का दोष भ्रम, संशय तथा मिथ्या प्रतीति है। यदि नेत्रों में पीलिया हो जाय तो हर चीज पीली ही पीली नजर आती है। इसी तरह जब अज्ञान और अविद्या के कारण ममता मोह तथा अहंकार तथा कामनायें नेत्रों को ढक लेती हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छुपाकर अन्यथाभाव होने लगता है। इसे वेदान्त की भाषा में आवरण तथा विक्षेप कहते हैं। आवरण तथा विक्षेप ही नेत्रों का अन्धापन है जिसके मूल में कामनाओं का वृत्ति प्रवाह रहता है। गोस्वामी जी इसलिए कहते हैं—

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही।

तथा

ममता तिमिर तमी अँधियारी॥

ममता, अहंता तथा स्वार्थ वासना अपने दोष न देखकर दूसरों में दोष देखने का आदी बना देती है। कहा जाता है कि—अपने दोष

न पश्यति' समता। तब व्यक्ति को अपने गुण ही दिखाई पड़ते हैं और दूसरों के अन्दर दोष ही दोष दिखाई पड़ते हैं। जब साधना पर गुरु कृपा होती है तब उसका हृदय दूसरों के गुण देखता है और अपने अन्दर के दोष ढूंढ़-ढूंढ़ कर निकाल देता है। यदि कृपा अथवा दबाकर रखा जायगा तो एक दिन उभरकर रोगी बना सकता है। यदि मन के दोषों की कड़ी जांच पड़ताल होती रही,—प्रतिदिन आत्म निरीक्षण, [illegible] सम्यक् धारणा ध्यान होता रहे तो मन की दौड़ कम होने लगती है। मन बहिर्मुखता से मुड़कर अन्तर्मुखी बनने लगता है जिससे बुद्धि तथा चित्त का स्थायी बन जीवन के कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ठीक-ठीक बोध करा दिया करता है। मन पर योग का पहरा बैठाना जरूरी है। मानो मन शैतान का अड्डा। वृत्ति संस्कार चक्र पर हावी बदलता है। यदि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार प्रवाहित हो रहे हैं तो जप तथा ध्यान से वृत्ति चक्र उलट जायगा। यदि धारणा और ध्यान समाधि में परिणत होने लगता है तो उस समय योग-जप के गुणों का प्रवाह चल पड़ेगा। ध्यान होगा ही सतोगुण की बढ़ी हुई दशा में। अतः यह निश्चित है कि समाधि दशा में सतोगुणी वृत्तियों का सबल प्रवाह होने से अक्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार उदित होकर सुख और शांति का अनुभव होगा। [illegible] मन को संतोषित कर मन को उसके अर्थ में भावविभोर कर लेने पर मन का दर्पण चमकने लग जायगा। सन्त समाज में नाम जप तथा ध्यान को मानसी निर्मलता के लिए परमावश्यक माना है—

'नाम बिना मन निर्मल नहिं होय'

आन उपाय अनन्त जग माहीं,
बहुत भांति कर कोय।
योग यज्ञ जप तप व्रत संयम,
करते हैं सब लोग॥
धर्म नेम ज्ञान मुनि गुरु,
[illegible] न कोय।
ज्ञानी गुणी शूर कवि पंडित,
ये पढ़े सब रोय॥

× × × ×

मनसा ते शुभ भावना शुभ करनी,
यह साधन नहिं सोय।
मन उज्ज्वल तब होय न निर्मल,
जब [illegible] होय॥

जप और ध्यान से मन में आनन्द-प्रस्फुरण हो जायगा फिर जीवन गुणग्राही बन जायगा। मन बुरा सोचने और बुरा करने से स्वयं बाज बचा होगा। जीवन में शुभ कर्मों की बाढ़ आने लगेगी। हर क्षण हर घड़ी चारों ओर आनन्द की वर्षा होनी शुरू हो जायेगी। यह जगत विषम ज्वाला से जलते जंगल से बदल कर कुसुमित नन्दनवन बन जायगा जहां जीवन और मृत्यु दोनों के ही महोत्सव मनने लगेंगे। ✿✿

प्रज्ञान--मन

स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम कर रहा है उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। इसके पास ही चित्त का केन्द्र है जिसे कि इन मन्त्रों में चेतस कहा है। बुद्धि का लोक मन का प्रकाशमय लोक है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रख कर उनकी परख मन के इसी लोक में हुआ करती है। मनन और निदिध्यासन की सब क्रियायें मन के इस भाग से सम्बन्धित हैं। ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हमें जो अनुभव हुआ करते हैं उन सबके आकार तथा प्रभाव चित्त पर अंकित हो जाते हैं। ये अनुभव अभी प्रारम्भिक स्थिति में हैं चित्त के पटल पर इनका चित्रण हुआ तो अवश्य है परन्तु अभी यह उस स्थिति में नहीं है जिसे हम कुछ काल के लिये स्थायी कह सकें। इनमें से बहुत से चित्र तो आकाश में प्रकट हुए मेघ के टुकड़ों की भांति तत्काल ही कहीं छिप जाते हैं। स्थिर वे ही अनुभव रहते हैं जिन पर बुद्धि काम करना आरम्भ कर देती है। जिस विषय का हमने अनुभव किया है उसका बार-बार युक्तियों और प्रमाणों से मनन करते हुए निश्चय की स्थिति तक पहुँचाना बुद्धि का ही काम है। बुद्धि के प्रकाश में लाकर चित्त के पटल पर अनुभव के स्थिर कर देने का नाम निदिध्यासन है। मनोविज्ञान के इस मन्त्र में भी बुद्धि को प्रकाश का केन्द्र ही कहा है। मन्त्र का अर्थ पाठक पहिले पढ़ आये हैं, अतः हम यहां मन्त्र के उतने ही भाग को उद्धृत करते हैं जितने के साथ बुद्धि का सम्बन्ध है। इस मन्त्र में पहिला वाक्य है 'यत्प्रज्ञानम्' अर्थात् मन का एक भाग वह है जिसे प्रज्ञान या बुद्धि कहते हैं। और इसका वर्णन करते हुए इसी मन्त्र में आगे चलकर लिखा है 'यज्ज्योतिरन्तः' जो कि अन्दर ज्योति अर्थात् प्रकाश रूप है, वह प्रज्ञान-लोक है।

यद्यपि मन का यह पटल प्रकाशमय है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में विषयों का वास्तविक रूप ही सदा प्रकट हो, हमारी बुद्धि की भी तीन अवस्थायें हैं। कभी इसका प्रकाश, आंखों की पुतलियों पर छाये हुए जाले की भांति तमोगुण के बढ़ जाने पर धुंधला हो जाया करता है। इस अवस्था में कितना ही यत्न करने पर भी बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को देख ही नहीं सका करती।

ऐसी अवस्था भी आ जाया करती है जब कि तमोगुण से दूषित बुद्धि वस्तु के स्वरूप को सर्वथा विपरीत देखने लगती है। बुद्धि का यह उत्तम प्रकाशमय होता हुआ भी अन्धकारमय है। अतएव उन्नति के अभिलाषी विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को अपनी बुद्धि को तमोगुण के इस पंजे में फँसने से सदा बचा रखना चाहिये।

बुद्धि को इस तमोगुण से बचा रखने का उपाय यह ही है कि कोई आलस्य-महाशत्रु से शरीर के अन्य अङ्गों को बचा रखने का है।

आलस्य भी तमोगुण का ही एक दूत है। और जब इसका आक्रमण शरीर पर होता है, तो प्रत्येक अङ्ग ढीला और बोझल हो जाता है। हाथ-पैर हिलाने और उठने को मन नहीं चाहता। साहसी मनुष्य आलस्य की इस बेहूदगी को झिड़कियाँ कि उसने शरीर का अधिकार लिया है, चाहने की चेष्टा करता है। पहिले वह उसी तरह अंगड़ाई को, जहाँ से वह खींच आ रहा है, बाहर फेंकने की चेष्टा करता है, वह अपने खान-पान की ओर ध्यान पर नियन्त्रण करना आरम्भ करता है जो शरीर में अनावश्यक भार और तमोगुण को जन्म दे रहा थी। और फिर जितना यह दोष शरीर में प्रविष्ट हो गया है उसे निकाल बाहर करने के लिए व्यायाम तथा कर्त्तव्यपरायण कार्यक्रम आरम्भ करता है। जिस प्रकार मन्थन से दही में से प्रकट होते ही मक्खन निकल आता है, मन्थन से ही दो लकड़ियों के रगड़ते ही उनमें से छिपी हुई अग्नि प्रकट हो जाती है ठीक इसी प्रकार कार्यक्रम की अटूट धारावाहिकता एवं कर्त्तव्य परायणता होने से शरीर के सब अंग तमोमय बन अपनी आलस्य की बेड़ियों को काट रजोगुण को जन्म देने में सफल हो जाता है। और रजोगुण का साम्राज्य आरम्भ होते ही हमारी बुद्धि से भी अन्धकारमय पाश उठ जाता है।

तमोगुण की जड़ता दूर हो जाने पर अब आलस्य के स्थान पर चंचलता तथा गति का क्रम आरम्भ होता है। अब कार्य में तत्पर रहने को मन चाहता है। लम्बी-चौड़ी योजनाओं की मानो प्रस्तुत होने लगती है उनको पूर्ण करने के साधन जुटाने के उद्योग आरम्भ हो जाते हैं। शरीर के सब अङ्ग कार्य में जुट जाते हैं और अनेक स्थानों पर सफलता के भी दर्शन होने लगते हैं। यह सब कुछ होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि आरम्भ से यह सब जीवन में उस प्रकार हो जाय, जो रहा हो जिसे हम जीवन तैयार करते हैं कारण स्पष्ट है कि जिस प्रकार आकाश में चमकती हुई बिजली की चमक विश्व को प्रकाश में आकर प्रकट तो कर देती है, परन्तु उस स्थान से हट ही हट जाने के कारण उसका सर्वाङ्ग निर्णय करने में समर्थ नहीं होती।

इसी प्रकार रजोगुण की तीव्र गति में बहती हुई बुद्धि के प्रकाश की तरंगे उस पदार-

कर्म का यथार्थ निर्णय करने में समर्थ नहीं हुआ करती, जिससे कि परिणाम व्यापक शान्ति और प्राणिमात्र के सुख को उत्पन्न करने के रूप में प्रकट हो सके। रजोगुण का बना हुआ विक्षेप का यह चक्र, मन, प्राण इन्द्रिय और बुद्धि किसी को भी स्थिर नहीं होने देता। कार्य अत्यन्त वेग से चलता है, परन्तु फल की ओर दृष्टिपात करने पर अशान्ति और क्लेश की ही धधकती हुई अग्नि हमें अपनी ओर आती दिखाई देती है। दृष्टान्त के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हम आज कल के ही प्रकृति-पूजक वैज्ञानिक जगत् की ओर एक दृष्टि उठाकर देख सकते हैं। रजोगुणी बुद्धि मनुष्य को सदा निरत होकर कार्य करने की ओर तो अग्रसर कर देती है, परन्तु विवेक से वह कोसों दूर रहती है।

इस प्रकार रजोगुणी फल को जन्म देने वाले कार्य करने से मनुष्य ऊब जाता है। और वह चाहता है कि बुद्धि का वह आलोक मिले, जिसमें स्थिरता और उल्लास, शान्ति समान हो। जिसकी प्रदीप्त प्रकाश की किरणें विश्व-व्यापी शान्ति देवी के मन्दिर का मार्ग बताती रही हों। जिसे अनेकों उपदेशक उपदेश दे देकर थक चुके थे और कान पर जूं तक नहीं रेंगती थी वही ही आज अपने कार्यक्रम की लम्बी दौड़ धूप के भयङ्कर परिणाम को देखकर, बुद्धि के इस तीसरे पहलू की सच्ची खोज में लगा है। बलपूर्वक लगी हुई ठोकर मनुष्य की आंखें खोल देती है। इसकी पहुंच वहां भी है जहां विज्ञान और उपदेश दोनों की दाल नहीं गलती।

बुद्धि के इस सात्विक लोक में पहुंचने के लिये साधकों के हृदय में धैर्य और संतोष का होना अत्यन्त आवश्यक है। स्थिरता की चेष्टा करने पर जो रजोगुण का प्रबल वेग उसे सहसा उठाकर कोसों दूर फेंक देगा। परन्तु विवेक के शीतल प्रकाश की चमक में वह फिर भी अपने आपको अपने ध्येय की ओर सीधा मुख किये हुये अटल खड़ा पायेगा। जिस प्रकार पानी में पत्थर फेंकते रहने पर उसे अचल देखने की इच्छा निराधार है उसी प्रकार कामनाओं का चक्र चलाते हुये बुद्धि में स्थिरता अथवा सत्वगुणों के सञ्चार की कल्पना भी निर्मूल है। जो जिज्ञासी और अभ्यासी बुद्धि के इस लोक का दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें रजोगुणी पदार्थों का सेवन छोड़ सात्विक पदार्थों का प्रयोग करना पड़ेगा और अपने चलते हुये कामना चक्र को रोक निष्काम कर्म योग को धारण करना होगा। उन्हें अपने हृदय मन्दिर के कपाट प्राणिमात्र के लिये खोल देने होंगे और अपने स्वार्थ की आहुति दीन और दुखियों के दुःख कुण्ड में डाल देनी होगी। उन्हें अपने कानों को विश्वव्यापी शान्ति का मनोहर गान सुनने के लिए खोल रखना होगा, और विश्व की कामनाओं में बहते हुए अपने प्रेम

को मज्जा के मनोहर दृश्य देखने के लिये उत्सुक रहना होगा। यदि उसे ये सब दृश्य देखने का अवसर मिल सका, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि में सत्वगुण जाग उठा है। और रजोगुण उसका अनुवर्ती होकर कार्य करने के लिये विवश हो गया है। बुद्धि में सत्वगुण का विकास हो जाने पर वह सत्य का पोषण करने लगता है तब उसके निर्णय यथार्थ होते हैं, और निश्चित हो जाता है, संशय और तर्क वितर्क आरंभ से विचलित करने के लिये आगे नहीं बढ़ते और मनुष्य को अपना कर्तव्य-पथ, आदित्य के उज्वल प्रकाश में पदार्थों की भांति, इस बुद्धि के प्रकाश में, स्पष्ट दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार मझधार जल में पड़ा हुआ पत्थर उसमें स्थायी क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्षणिक क्षोभ की एक तरङ्ग उठती है और किनारे पहुँचती ही शान्त हो जाती है। और जल फिर अपनी उसी समतल रेखा में स्थिर पाया जाता है। ठीक इसी प्रकार मार्ग में आये हुए विघ्न-बाधाओं के क्षोभ-कारक प्रहार भी इस बुद्धि में क्षणिक क्षोभ को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। और वह फिर अपने उसी प्रथम आकार में चमकती हुई निश्चल दिखाई देती है। रजोगुण की प्रधानता के समय इस के प्रकाश को विद्युत् के प्रकाश की उपमा दी गई थी, परन्तु अब हम उसके प्रकाश को सूर्य के प्रकाश की उपमा दे रहे हैं। बुद्धि के प्रकाश की स्थिरता और स्पष्टता ही उसे इस उपमा के मिलने में कारण है। सत्व-प्रधान बुद्धि की व्याख्या करते हुए कृष्ण भगवान ने गीता में लिखा है:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति
बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥

गीता १८/३०

धर्म और अधर्म कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष इन सबको जो जानती है, हे अर्जुन! वह सात्विकी बुद्धि है।

यह कर्म धर्म है और यह अधर्म यह निर्णय एक जटिल समस्या का हल है। आज जो धर्म मेरे लिये धर्म है कल ही दूसरी अवस्था में आकर वह अधर्म हो जाता है। मैं [illegible] भूमि में चला जा रहा हूँ। मैंने मार्ग को ध्यान से न देखा और मेरे पैर के नीचे आकर एक छोटा सा कीड़ा कुचल गया और मर गया। देखने वाला धार्मिक मनुष्य मेरे इस कर्म को अधर्म और धर्म से पतित कहेगा। मैं संग्राम-भूमि में पहुँच जाता हूँ, लड़ाई आरम्भ हो जाती है, शत्रु की ओर भली भांति दृष्टि बांध कर एक के अनन्तर दूसरा और छोड़ना आरम्भ कर देता हूँ और सैकड़ों वीरों को मृत्यु के कराल गाल में भेज देता हूँ। यदि मैं

कौरवों से लड़ता हूँ और छाती में और अन्दर भी एक पग पीछे नहीं हटाता, तो इतनी हत्याएं करने पर भी लोग मेरे इस कर्म को धर्म और मुझे धार्मिक कहेंगे।

धर्म और अधर्म के विवेक की उलझन का यह एक मोटा सा दृष्टान्त है। इन दोनों के विवेक की समस्यायें मनुष्य के सामने प्रतिदिन आती हैं, और इतनी उलझी हुई आती हैं कि कई स्थानों पर शास्त्र-वेत्ता लोगों की परिष्कृत बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। परन्तु सत्व-गुणी बुद्धि की ऐसी महिमा है कि उसके प्रकाश में यह सब गाँठें बात की बात में खुलती चली जाती हैं। जिसने शास्त्रों को नहीं भी पढ़ा उस मनुष्य को भी इस बुद्धि के प्रकाश में धर्म और अधर्म का भेद ऐसा ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में गुलाब और चमेली के फूल का। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, कि 'हो सकता है।' अनपढ़ भगवद्भक्तों के वचन बहुत से स्थानों पर सत्य होते देखे गये हैं। उन्होंने इस विचार को कैसे जान लिया होगा? इस प्रश्न का उत्तर वह मनुष्य कैसे देगा और वह समझने वाला कैसे समझेगा, जिसके पास सात्विक बुद्धि की यह प्रकाशमय ज्योति नहीं है, जो कि उस भगवद्भक्त के पास थी। जो जिज्ञासु इस प्रश्न का उत्तर लेना चाहते हैं उन्हें उपनिषदों की दहकती हुई भट्टी में डाल अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को कुन्दन बनाना होगा। अर्थात् उनके रोम-रोम में रमे हुए तमोगुण और रजोगुण के मलों को भस्म कर उनका स्थान सत्वगुण के समुज्ज्वल प्रकाश के अर्पण करना होगा।

जिस प्रकार धर्म और अधर्म का विवेक-ज्ञान कठिन समस्या है, इस प्रकार कर्तव्य और अकर्तव्य का पहिचानना भी टेढ़ी खीर है।

मुझे अब क्या करना चाहिये? यह समस्या संसार-यात्रा के प्रत्येक यात्री के सामने अनेकों बार आती है। और कई बार तो इतनी उलझी हुई आती है कि सुलझाना कठिन हो जाता है। अर्जुन की इस समस्या को कि "लड़ूँ या नहीं?" और अपनी इस समस्या को कि 'मैं कौरवों का साथ दूँ या पांडवों का?' सत्वगुणी बुद्धि के धनी योगि-राज कृष्ण भी कितनी कठिनाई से सुलझा सके थे, इस बात को इतिहास के पढ़ने वाले लोग भली भांति जानते हैं। परन्तु जीवन की इस विकट समस्या की युक्ति का सरल उपाय भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक के शब्द में ही बतला दिया है, कि बुद्धि में सत्वगुण को प्रधान कर दो। सत्वगुण वाली बुद्धि ही प्रमाण बन जाती है और वही धर्म-अधर्म सत्य-असत्य का निर्णय कर पाने में समर्थ होती है।

योग-रत्न को देखो चलकर

साहित्याचार्य डा० श्री केशवराम शर्मा, एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत),

सिद्धयोग से डरने वालो, घबराते क्यों देखो चलकर।
भूल समझ की पड़ जाती है, योग-रत्न को देखो चलकर॥

अगणित भटक-भटक मर जाते,
योग-मार्ग को जटिल बताकर।
इधर-उधर की झोंक-झोंक में,
रह जाते यों ही पछताकर॥

है क्या योग ? न जाना-पूछा,
जीवन व्यर्थ हताश करोगे ?
रंग मात्र से गुड़ कड़ुआ है,
गाइड में क्या विश्वास करोगे ?

कैसा पथ है ? मंजिल कितनी ?
कहे योग जो जान चुका है।
लक्ष्य पूर्ण कर चुका पुरुष जो,
उसका पथ पहचान चुका है॥

अनदेखी राहों में साथी ! चलना होगा सँभल-सँभलकर।

सब अनदेखी राहों के हम,
पथ पूछें जो जान चुके हैं।
जटिल मार्ग में 'गाइड' होना,
आवश्यक है, मान चुके हैं॥

योग-मार्ग के भोले राही !
गुरु-गाइड से क्लेश न होगा।
सिद्ध पुरुष की शरण मिले पर,
बाधाओं का लेश न होगा॥

चलना सीख रहे बच्चे का,
माता जैसे डग भरवाती।
गुरु-कृपा की डोर मिले पर,
योग-कला भी यों ही आती॥

मुँह के बल वे गिरते देखे, चले गुरु से प्राय उछलकर।

मत सोचो बच्चे या युवक हो,
वृद्ध हुए पर योग सधेगा।
प्रेय-श्रेय पथ छोड़ो अपना,
वही सफल जो शीघ्र लगेगा॥

प्रखर चेतना निर्मल बुद्धि,
है किशोर की सहज ग्राहिणी ।
लौकिक-विद्या-कला सीखते,
कुछी खोजते मोक्षदायिनी ।

जब आँखें खुल गईं सवेरा,
छोड़ सको तो छोड़ो डेरा ।
जग-जीवन का मोह त्यागकर,
मुक्ति पथ में करो बसेरा ॥

उठते-गिरते, जैसे-तैसे, गुरु-कृपा से जन्म सफल कर ।

इस गृहस्थ में योग न होगा,
भूल रहे इतिहास संभालो ।
जनक-कबीर अनेक मिलेंगे,
गांधी का जीवन पढ़ डालो ॥

रामरती—गोपाला नन्द से,
अगणित हैं कुछ कमी नहीं है ।
शरण गुरु की पकड़ी जिनने,
उनको जग में कमी नहीं है ॥

गुरुवर के इन श्री चरणों ने,
लाखों जीवन सफल बनाए ।
चमत्कार से मोह इन्हें कब,
क्यों जग-मानव देख न पाए ।

शान्त सिन्धु है योगीश्वर की, तट क्यों बनती लहर उछलकर ।

मैं अगणित को देख रहा हूँ,
जग-बन्धन से मुक्त घूमते ।
बाधाएं गुरुदेव काटते,
योग-सुधा में मस्त झूमते ॥

चाह नहीं उनको दुनिया की,
वैभव की होली कर डाली ।
कुछ वैरागी बने यहीं पर,
कुछ ने वन की राह संभाली ॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जीवन में सद्गुरु की आवश्यकता

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास बीना (म. प्र.)

दो शब्द समस्त विश्व के सम्पूर्ण जीवन में ऐसे आते हैं, जिन्हें अपने अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता एवं दो शब्दों के श्रवण मात्र से मेरी आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर आते हैं। ये पावन शब्द हैं—"माँ और गुरु"। गुरु हमारा आध्यात्मिक रूप है, सूक्ष्म शरीर है, तो माँ या माता बाह्य शरीर, अन्नमय कोष। माता अपने रक्त मांस और शरीर से हमें उत्पन्न करती है, हमें स्वरूप आकार एवं प्राण देती है। हमारा बाहरी रूप स्थिर करती है। हमारा यह बाह्य रूप कितना भी सुन्दर हो, कितना भी आकर्षक हो, पर अन्तःकरण के सौन्दर्य बिना अधूरा सा ही रहता है।

मानव-जीवन की सार्थकता है, त्रिविध तापों से निवारण एवं साधन चतुष्टय की उपलब्धि में। बिना प्राण की मूर्ति के सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं, कलाकारों एवं शिल्पियों की दुकानों में रखी मूर्तियों से तनिक भी प्यार नहीं किया जा सकता, जो संबंध सिन्दूर और सुहाग का है, वाणी और राम का है, फूल और सुगन्ध का है, वही सम्बन्ध जीवन में शिष्य और गुरु का है। हमारा अन्तरंग प्रशांत गुरु का है, हमारे भीतर जो कुछ है, गुरु का है हम जो बन पाये हैं, वह गुरु प्रसाद है। इसी लिये तो कबीर साहब ने कहा था—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी,
जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

(पिछले पृष्ठ का शेष)

हैं उदास कुछ गिने-चुने ही,
नहीं वासना जिन्हें सुहाती।
भटक रहे अंधे माया में,
शक्तिहीन को नहीं बचाती॥

हे केशव ! निज 'केशव' पीड़ा,
आप मिटादो दास समझकर।
धूल समय की पड़ जाती है,
दीन-रत्न को देखो मलकर॥

स्मरण रखना चाहिए कि गुरु के बिना समाधि या ज्योतिर्मिलन की साधना हो ही नहीं सकती। उनके बिना हम मृत्यु से अमरत्व की ओर जा ही नहीं सकते। अतः उठो जागो और जाओ उन गुरु के पास, जो पहुँचे हुये हैं। जब तक हम ऐसा नहीं करते, मनुष्य नहीं बन सकते। मनुष्य वह है, जो मन को वशीभूत कर लेता है। साधन-शून्य मनुष्यत्व प्रदान नहीं कर सकती।

गुरु प्राप्त होते ही गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा था, 'अब लौं नसानी अब न नसैहौं'। अतः गुरु की आवश्यकता इस लिये है कि हम अपने आपको पहचान सकें विनाश से बचा के कल्याण की ओर ले चलें आत्म-साक्षात्कार कर सकें। गुरु हमें स्वीकार कर लेते हैं तो हमारा अस्तित्व उनका हो जाता है, उनमें अहंता और अभिमान विनष्ट हो जाती है और गोपियों की तरह हम भी कहने लगते हैं—

ये नयना हैं श्याम के,
सखी हमारे नाहिं।

याद रखिये मनुष्य हाड़-मांस का पिण्ड मात्र नहीं, यह तो अद्भुत शक्ति का प्रत्यक्ष रूप है, ज्ञान नगरी में पहुँचने की देर है। इस नगरी की बैठक में प्रवेशार्थ गुरु कृपा ही जीव रूपी नदी को ब्रह्म सागर की प्राप्ति में गौरव मैदान की भी सुविधा प्रदान करती है अतएव ईश्वरोन्मुख हुए बिना कर्त्तव्य परायण बनना चाहे तो असम्भव है, क्योंकि उसकी चित्त वृत्ति ईश्वर भजन के अभाव में बन्द रहती है, फलस्वरूप विवेक का स्फुरण नहीं हो सकता और विवेक ही कर्त्तव्य परायणता का आधार है, अतः बिना गुरु के मनुष्य कुछ भी नहीं बन सकता।

गोस्वामी जी ने बार-बार गुरु वन्दना की है, हमारा सम्पूर्ण साहित्य गुरु की महत्ता के प्रतिपादित करने में सर्वथा सक्षम रहता है। शास्त्र ऐसा कहते हैं कि सद्गुरु के स्मरण-मात्र से ही सबके सारे विघ्न समाप्त हो जाते हैं।

योग मार्ग में गुरु की बड़ी महिमा है, श्रीगुरुपद मात्र व्यापित हो जाती है। स्वर्ग, अपवर्ग, मोक्ष-निर्वाण सब कुछ वहीं है, गुरु के पावन वाक्य में वेद निवास करते हैं पद-पद में तीर्थ बसते हैं और प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराज-मान रहता है।

धन्य है गुरु और गुरु सत्ता। गुरु जो निरन्तर ध्यान का तथा साधनों का प्रकाश करा-कर कीट को भी भ्रमर बना देते हैं, कोई भ्रमर हो गया, नई पांखें फूट आईं, नया रंग आ गया, नई शक्ति स्फुरित हुई, उन्होंने जाति नहीं देखी, कुल नहीं विचारा, अपने आपमें मिला लिया, नदी नालों का पानी गंगा में मिलकर गंगा जल हो जाता है, हम भी गुरु से मिलकर तद्रूप हो जाते हैं। धन्य हो गये हम गुरुवर तुम्हारी कृपा से। उनने चंचल मन को पंगु बना दिया, तत्व में तत्त्वातीत को दिखा दिया। बन्धन से निर्बन्ध कर दिया, आनन्द एक भक्ति करके कृतार्थ कर दिया। आओ नमन करें इस प्रकार की अहैतुकी कृपाओं के लिए अपने ऐसे दयालु गुरुदेव को। ✿✿

महा प्रभु जी का रजः प्रसाद

श्री राजेश्वरदत्त शर्मा (दिल्ली)

मेरे एक मित्र श्री पी० एन० मिश्रा, सरकारी ईंधन संचार मार्ग दिल्ली में काम करते हैं। उनके छोटे भाई श्री दयाराम मिश्रा को डी० टी० यू० में स्टोर कीपर की नौकरी दिलाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। करीब पांच साल पहले श्री दयाराम मिश्रा की शादी एक सम्पन्न परिवार में हुई थी। इस शादी के अवसर पर मुझे भी आमंत्रित किया गया था, परन्तु किसी कारण वश मैं इस में सम्मिलित न हो सका था।

एक दिन प्रातः काल लगभग ८ बजे श्री दयाराम मेरे घर पर आये। मैंने समझा कि वह अपने दफ्तर के किसी कार्य से आये हैं। कुशल क्षेम पूछने के बाद मैंने उनसे उनकी पत्नी के बारे में भी औपचारिक रूप से पूछा। यह सुनकर उन्होंने कहा कि वह एकान्त में कुछ बात करना चाहते हैं। यह सुनकर मेरी पुत्री निर्मल तथा धर्म पत्नी जो वहीं बैठी थी, दूसरे कमरे में चली गई। मैंने कहा कि अब मैं अकेला हूं, निःसंकोच बतलाओ कि तुम्हें क्या कष्ट है? इस पर श्री दयाराम ने जो कुछ कहा मैं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूं। वे बोले "मैं एक रोज रात्रि के करीब ११ बजे अपनी ड्यूटी समाप्त कर घर आ रहा था, दफ्तर की गाड़ी ने मुझे दिल्ली गेट के पास उतार दिया, (वहां से घर कश्मीरी गेट के पास करीब ३।। मील है। जब मैं रामलीला ग्राउण्ड के पास पहुंचा तो मैंने देखा कि कोई नव-विवाहित स्त्री, पूर्ण श्रृंगार किये हुए, अचानक कहीं से आई और मेरे साथ-साथ चलने लगी। उसे साथ-साथ चलते देख मैंने सोचा कि यह स्त्री किसी असामाजिक तत्व के गिरोह के साथ होगी, और कुछ देर में इसके साथी आ जायेंगे, और मुझपर अकेली औरत से छेड़ छाड़ का झूठे आरोप लगाकर झगड़ा करना चाहेंगे। मेरे पास जो भी रुपया पैसा व सामान है उसे छीनकर ले जायेंगे। विचारों में डूबते हुए मैंने सोचा कि इस समय मेरे पास थोड़े रुपये तथा एक थैला है, ज्यादा से ज्यादा यही छीन लेंगे। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, उस औरत ने मुझ से बात करना आरम्भ किया। मुझ से पूछा तुम्हारी शादी क्या हो गई है? मैंने कहा हो गई है। उसने कहा तुम्हारी पत्नी अच्छा औरत नहीं है, अतः तुम मेरे साथ घर चलो और मुझे अपना दोस्त व साथी समझो, उससे

कई बार यह प्रयत्न किया कि मैं उसके आकर्षण से प्रभावित हो जाऊँ। परन्तु मुझे तो यही डर लग रहा था कि यह औरत मक्कारी से मुझे अपने घर ले जाना चाहती है और वहां ले जाकर मेरे ऊपर कोई भी आरोप लगा सकती है। इस प्रकार कुछ कुछ बात करते करते हम आसफअली रोड पर हमदर्द दवाखाने के चौराहे के पास पहुँच गये, जहां से मेरा घर निकट था, तथा मुझे कुछ हौसला भी हो गया—और हिम्मत करके मैंने उस औरत को झिड़क कर कहा कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो, मुझे तुम्हारे साथ नहीं जाना है। तुम अपना रास्ता नापो।

यह सुन कर उस औरत ने कहा कि यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हें जीवन भर पछताना पड़ेगा। इसी बीच हम चौराहे पर पहुँच चुके थे। मैंने आवेश में आकर कहा कि मैं तुम्हारी बात मानने को तय्यार नहीं हूँ और तुम जो भी करना हो कर लो। इतना कहकर मैंने अपना मुँह घुमाया और अपने घर के रास्ते की ओर कदम बढ़ा दिए। तुरन्त ही आश्वस्त होने के लिए कि वह औरत गई या नहीं मैंने पीछे मुड़ कर देखा तो मेरी हैरानी की कोई सीमा नहीं रही, यह देख कर कि वह औरत कहीं गायब हो गई है। चौराहे पर आसपास छिपने की भी कोई जगह नहीं दिखाई दे रही थी। अन्त में मैं अपने घर चला गया। श्री दयाराम मित्तल ने मुझे बतलाया कि वही औरत मुझे रात्रि को नित्य नजर आती है और मेरी नींद भी उसने हराम कर रखी है।

यह सब सुन कर मैंने उससे पूछा कि भाई तब तुम यह बतलाओ कि तुम यहां किस लिए आये हो? मैं कोई स्याना या सिद्ध नहीं हूँ जो तुम्हारा इलाज करसकूँ। मैंने किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाने की सलाह दी जो इस प्रकार का इलाज करता हो। उसकी जानकारी के लिए मैंने उसे एक व्यक्ति का पता बतला दिया और कहा तुम उनके पास कल प्रातः ही चले जाना, हो सकता है कि वह तुम्हारा इलाज कर सके। यह सुनकर श्री दयाराम ने कहा कि जाने को कल तो मैं चला जाऊँगा, परन्तु आज की आने वाली रात्रि कैसे व्यतीत होगी, मुझे तो यह चिन्ता है। अकस्मात् मेरे मन में प्रेरणा हुई कि इसे रक्षा का प्रसाद बटा दिया कुछ पुड़िया में बांध कर दे दिया कि इसे सांयकाल या रात्रि को सोने से पहले ग्रहण कर लेना। वह अपने घर चला गया और मैं अपने दफ्तर। इसके बाद मैं इस घटना को भूल गया। करीब दो माह बाद उनके बड़े भाई श्री पी० एन० मित्तल मुझे मिलने के लिए मेरे दफ्तर आ गए। अचानक मुझे उनके भाई के बारे में याद आया और उस का कुशल क्षेम पूछा। श्री पी० एन० मित्तल ने मुझे बतलाया कि वह तो आप के दिए हुए रक्षाप्रसाद से उसी दिन से ठीक है। यह सुन कर मेरे मन को जो हर्ष हुआ उसे मैं ही जानता हूँ। श्री प्रभुजी किस प्रकार अपने अबोध बालकों पर कब और कैसे कृपा बरसाते हैं, इसकी महिमा स्वयं ही जानते हैं।

त्रिविधि-गुरु

❁ श्री कैलाश उपाध्याय, वाराणसी

अभी हाल ही में मुझे एक महात्मा के दर्शन प्राप्त हुये थे। वे मस्त महात्मा हैं और प्रायः प्रतिक्षण ईश्वर के ध्यान में मग्न रहा करते हैं। उनका स्वभाव प्रायः इस प्रकार का बन गया है कि सामान्य प्रश्न हों तो हँसें, और ज्यादा लोग उनके पास एकत्र हो जाएं तो सबको भगा दिया करते हैं। प्रायः कोई प्रश्न पूछने पर उत्तर नहीं दिया करते हैं। जिस समय मैं उनके पास पहुँचा उनके तीन-चार शिष्य उनके पास उपस्थित थे। अपने आप बिना कुछ प्रश्न किये, कहने लगे: तुम जानते हो गुरु कितने प्रकार के होते हैं? मैंने उत्तर दिया कि महात्मन्! मुझे इसकी जानकारी नहीं है। बोले, गुरु तीन प्रकार के होते हैं। पत्थर, लक्कड़ और फक्कड़।

मैं भला उनके इस मौलिक उत्तर को क्या समझ सकता था! कुछ मिनट पश्चात् आपने आप तीनों गुरुओं का रूप समझाने लगे।

'पत्थर गुरु'—जो स्वयं भी डूबे और अपने शिष्य को भी साथ डुबाता ले जाय वह पत्थर गुरु। आज कल ऐसे गुरुओं की बहुतायत है। इस प्रकार के गुरु, ईश्वर या अध्यात्म के विषय में कुछ भी नहीं जानते, परन्तु उनकी वंशावली किसी विशेष या परिवार विशेष को मन्त्र प्रदान कर शिष्य बनाती चली आयी है। वे भी बिना कुछ सोचे समझे उसी परिपाटी का निर्वाह करते चले जा रहे हैं। इस प्रकार के गुरुदेव शिष्य का कल्याण करने की बात भी नहीं सोचते, और न शिष्य का कल्याण करने की ताकत उनके अन्दर रहती है। कल्याण से तात्पर्य शिष्य की आध्यात्मिक प्रगति से है। शिष्य के लौकिक कार्यों में वे थोड़ी बहुत सांसारिक सहायता प्रदान कर दें यही बहुत है। 'लक्कड़ गुरु'—ऐसे गुरुदेव होते हैं जिनके मन्त्र और उपदेश का सहारा लेकर शिष्य अपनी श्रद्धा-भावना के बल से पार हो सकता है।

ऐसे गुरु आध्यात्मिक साधना के पथिक होते हैं और अपने शिष्य की आध्यात्मिक साधना आरम्भ कराने की ताकत अपने अन्दर विद्यमान रखते हैं। अपने शिष्यों को आध्यात्मिक साधना का पथिक ऐसे गुरुदेव बना ही दिया करते हैं। परन्तु शिष्य की साधना की सफलता या पूर्णता उसकी श्रद्धा

और स्वाभाव पर ही गुरुत्व भाव से निर्भर रहती है।

'फक्कड़ गुरु'—की व्याख्या करते हुए महात्मन ने अपनी चुटकी बजायी और कहा कि जो अपने शिष्य का गुण-अवगुण बिना विचारे ही, कल्याण कर दे वह फक्कड़ गुरु। इस प्रकार के गुरुदेव सत समर्थ होते हैं। शिष्य का कल्याण करने का विचार उनके अन्दर आया कि तत्काल शिष्य का कल्याण हुआ।

इतना कहकर महात्मा जी उठे और एक तरफ चलते बने। मैं भी वहां से उठकर अपने स्थान को चल दिया। रास्ते भर सोचता रहा कि हमारे महाप्रभु जी किस श्रेणी में आते हैं। महात्मन ने बतलाया था कि 'फक्कड़' गुरु चुटकी बजाते ही शिष्य को पार लगा देता है, परन्तु योग-योगेश्वर हमारे महाप्रभु जी! अहा! कितने दयालु हैं, रास्ते चलते चुटकी बजाकर न जाने कितने पामर सांसारिक जीवों को पार लगा देते हैं? आप स्वयं विचार करें, क्या रामपती ने, महाप्रभु जी के जमुनियां घाट पर दर्शन से पूर्व साधना शिष्यत्व ग्रहण किया था? क्या माघ मेले में दर्शन से पूर्व मेंहू मल्लाह ने महाप्रभु जी का शिष्यत्व ग्रहण किया था? क्या यह सत्य नहीं है, कि प्रथम दिन ही दरबार में उपस्थित होने वाली एक बालिका (परम आदरणीया स्वर्गीया द्रोपदी माता जी) को उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति प्रदान कर दी? क्या इस बालिका ने इसके पूर्व हमारे दादा गुरुदेव की शिष्य मण्डली में स्थान प्राप्त कर लिया था? ऐसे बहुतसे उदाहरण हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि हमारे दादा गुरुदेवजी ने बिना शिष्यत्व ग्रहण कराये ही दुःखी जनता का कितना कल्याण किया था।

इस सम्बन्ध में विशेष क्या कहना, हमारे आप के और प्राणी मात्र के भाग्य-विधाता हमारे सद्गुरुदेव भगवान के दरबार में भी इसी परिपाटी का पालन होता दिखाई दे रहा है! सिद्ध गुफा सर्वाई से थोड़ा भी संबंध रखने वाला प्राणी चाहे वह शिष्य हो या न हो, इस तथ्य से पूर्णतया परिचित होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। विशेष क्या कहूं भाव, अब तो तुलसीदास की एक ही अर्धाली बारम्बार स्मरण होती है कि—

सोई जानइ, जेहि देहु जनाई।

अन्त में पुनः गुरुओं के गुरु अकारण दयालु, अपार करुणा सिन्धु, योगियों के ईश्वर अपने दादा गुरुदेव श्री महाप्रभु जी महाराज और श्री सद्गुरुदेव भगवान् के युगल पाद पद्मों में बारम्बार साष्टांग प्रणाम करते हुए इस अपने निवेदन को विराम दे रहा हूं।

जैन दिगम्बरों की साधना एवं मोक्ष मार्ग

❀ श्री श्यामदास जैन एम. ए. (हिन्दी) झाँसी

सम्यक दर्शन ज्ञान
चारित्राणि मोक्ष मार्गः।
तत्त्वार्थ सूत्र

सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र ही जैन दिगम्बरों ने मोक्ष मार्ग बतलाया है। जैन दिगम्बरों की मोक्ष-साधना इसी के अनुसार चलती है, इसका स्वरूप इस प्रकार है कि देव और गुरुदेव में श्रद्धा करने का नाम सम्यक दर्शन है, स्व और पर के वास्तविक स्वरूप को जानने को सम्यक ज्ञान कहा है, दूसरे शब्दों में अपने शुद्ध आत्म रूप में रुचि उत्पन्न होने का नाम सम्यक दर्शन है तथा उसी आत्म-स्वरूप के ज्ञान को सम्यक ज्ञान एवं इसी आत्म स्वरूप में लीन होने को सम्यक चारित्र कहते हैं। जब योगी (मुनि) प्रमाद से होने वाले कर्मास्रव से रहित हो जाता है यानी उस परमात्मा में लीन हो जाता है तब सम्यक चारित्र भी बन जाता है, यही तीनों आत्मा के निज स्वरूप हैं तथा वास्तविक सत्ता है, यही सत्य परम तत्व सम्पूर्ण तत्व है।

जो भी भव्य जीव एकत्व (आत्मतत्व) निराले पद को प्राप्त आत्मतत्व को जानता है वह स्वयं ही संसार के सभी कर्मों से मुक्तमान है, वही परमात्मा बनता है एवं प्राणी उसकी आराधना करते हैं, उसका आराध्य दूसरा कोई नहीं रहता। उस एकत्व का ज्ञान दुर्लभ अवश्य है लेकिन निःसन्देह मुक्ति को प्रदान करता है तथा मुक्ति में जो बिना बाधा के निरन्तर प्राप्त सुख है जो संसार में सर्वत्र दुर्लभ एवं असम्भव है उस परम ज्योति द्वारा ही सम्भव है।

जैन एवं अन्य धर्मों के मतानुसार मोक्ष प्राप्ति ही परम सुख है, इसके परे कुछ भी नहीं। मोक्ष प्राप्ति इसका मतलब है कि हमें दूसरे परमेश्वर लोक में जाना पड़ेगा तथा दूसरे लोक में जाने के लिये हमारे पास उस प्रकार की उचित सामिग्री होना चाहिये तभी सम्भव हो सकेगा, इसके लिये हमें धर्माचरण करते हुए उस परम ज्योति गुरुदेव के निर्देशानुसार चलकर पूंजी (सामग्री) उपलब्ध करनी पड़ेगी तभी उस परम ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं। वैसे तो हम संसारियों ने जन्म-मरण के कारणभूत विषयों को सुना एवं अनुभव किया लेकिन मुक्ति किसी नहीं प्राप्त हुई, जैनों का मूलतत्व जिसे इसी

जैन महामन्त्र मानते हैं वह इस प्रकार है:— 'णमो अरिहंताणम्, णमो सिद्धाणम्, णमो आइरियाणम्, णमोउवज्झायाणम्, णमो लोए सव्व साहूणम।' इस मन्त्र का अर्थ है कि— अरहंतो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार एवं सर्व साधुओं को नमस्कार। इस मन्त्र में जैन शास्त्रों में सिद्धों की परमावस्था बतलाई है, इसका वर्णन—पद्मनन्दि पञ्चविंशति में भली प्रकार से मिलता है। जैसे उन सिद्धों को परमाणु क्यों दूसरे ज्ञानशाली भी नहीं देख पाते जिनके ज्ञान में स्थित तीनों लोक आकाश में स्थित एक नक्षत्र के समान स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं उन अपरिमित तेज के धारक सिद्धों का वर्णन मुझ से नहीं हो सकता ऐसा पद्मनन्दि मुनि ने लिखा है, जो कुछ वर्णन किया वह भक्ति के वश होकर ही किया है, इस अधिकार में उन्होंने २९ श्लोक लिखे हैं एवं प्रथमतः सिद्धों को नमस्कार पूर्वक उनसे अपने कल्याण की प्रार्थना करते हुए ज्ञानावरणी, दर्शनीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय आठ कर्मों के नाश से सिद्धों के गुणों का वर्णन जिनके दोनों चरणों में समस्त देव नमस्कार करते हैं तथा लोक शिखर के आश्रित हैं, जो अविनश्वर स्वाभाविक निर्मल दर्शन (केवल दर्शन) और ज्ञान (केवल ज्ञान) रूप अनुपम शरीर को धारण करते हैं जो कृत्य-कृत्य स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं अनुपम हैं, जगत के लिये मंगल स्वरूप हैं तथा अविनश्वर सुखरूप अमृतरस के पात्र हैं। जो सिद्ध अपने कर्मरूपी कठोर शत्रुओं को जीतकर नित्य (मोक्ष) पद को प्राप्त हो चुके हैं वे सिद्ध अपने ज्ञान के प्रमाण हैं, इनका ज्ञान अपरिमित है। शरीर का सम्बन्ध छूटने पर अमूर्तिक सिद्धात्मा का आकार कुछ आत्म प्रदेश शेष रह जाता है जिस प्रकार कि मिट्टी आदि के पुतले के अन्दर मोम भर दिया जाये और फिर अग्नि का संयोग प्राप्त होने पर मोम के गल जाने पर आकार में कुछ आकाश शेष रह जाता है। कर्मों के निमित्त से संसारी प्राणी हमेशा दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा निर्विकल्प आत्म स्वरूप को नहीं जानते और न देखते हैं एवं अपने स्वभाव एवं सामर्थ्य का भी अनुभव नहीं करते, उन कर्मों को सिद्धों ने महान् योग अर्थात् शुक्ल ध्यान के द्वारा नष्ट कर दिया है, वे सिद्ध भगवान अविनश्वर हैं, अन्धकार के विस्तार से रहित हैं, तीनों लोकों के अधिपति हैं तथा बाह्य एवं अभ्यन्तर बन्धन से मुक्त हैं। सिद्धों की जो गति है वही उत्तम गति है, वही परमसुख है, उनको जो ज्ञान दर्शन है वही यथार्थ है, इसको छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है अतः संसार को छोड़कर उन सिद्धों के उत्कृष्ट स्वरूप की प्राप्ति में

मन लगाकर अपने चित्त में निरन्तर उन सिद्धों को ही श्रद्धा पूर्वक स्मरण करना चाहिये।

इस परलोक यात्रा को सुखद बनाने के लिए यानी सिद्ध पद प्राप्ति के लिये सामग्री की आवश्यकता है तथा वह सामग्री है धर्म। धर्म का स्वरूप यहां पर व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से, व्यवहार के आश्रय से जीव पर दया करने तथा सदाचरण को धारण एवं उसके दुःखको अपने दुःखके समान अनुभव करने को धर्म कहा है। प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना रत्नत्रय धारण करना तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्मों का पालन करना यह व्यवहार धर्म का स्वरूप है। निश्चय के आश्रय से धर्म शुद्ध आनन्द-मय आत्मा की परिणति को कहा जाता है।

व्यवहार की दृष्टि से धर्म के दो भेद, गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म है। दोनों के लिये जीव दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ के समान है।

गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म में मुनि धर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र) के धारक साधु ही होते हैं जिनका स्मरण जैनों के महामन्त्र णमोकार मन्त्र में आता है। एवं इनकी शरीर की स्थिति गृहस्थों द्वारा भक्ति पूर्वक दिये भोजन आदि के द्वारा होती है अतः जो गृहस्थ इस प्रकार करता है उसी का गृहधर्म अभीष्ट माना गया है तथा गृहस्थ अपने छै धर्म—

देवपूजा गुरूपास्ति
स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां
षट्कर्माणि दिने दिने॥

(१) देव पूजा (२) गुरु उपासना (३) स्वाध्याय (४) संयम (५) तप (६) दान। गृहस्थ इन छै धर्मों का पालन करता हुआ मुनि धर्म को स्थिर रखने के वास्ते मुनियों को आहार आदि का प्रबन्ध करता है यह प्रशंसनीय है। गृहधर्म के सभी गुणों का पालन मुनियों को भी करना पड़ता है। गृहधर्म में श्रावक दर्शन व व्रत आदि के भेद से ग्यारह स्थान निर्दिष्ट किये गये हैं। इन सबमें कुव्यसनों का त्याग स्मरण किया गया है। चारित्र के दो भेद सकल चारित्र और विकल चारित्र, इसमें सकल चारित्र मुनियों को और विकल चारित्र श्रावकों को होता है। श्रावकों की एकादश श्रेणियां हैं दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, दिवा-भुक्ति, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग, इनके पूर्व सात व्यसनों का त्याग अनिवार्य है। व्यसन बुरी आदतों को कहा गया है। ये व्यसन सात हैं:—(१) जुआ खेलना (२) मांस भक्षण करना

किया है। यम-नियम इन्हीं आठ अङ्गों में से प्रमुख और महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। जो भी व्यक्ति अपने जीवन और व्यवहार में इन यम-नियम रूपी महाव्रतों को धारण कर लेता है वह मनुष्य ही नहीं किन्तु मनुष्य से ऊपर देवत्व की श्रेणी में पहुँच कर मोक्ष का भागी बन जाता है। श्री मद्भगवद्गीता में जिस दैवी सम्पदा का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने किया है वह इन यम-नियमों में समायी हुई है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान जैसे महाव्रत यदि हम सबके आचरण में आ उतरें तो फिर शोक मोह मद-मान, भय, राग द्वेष, क्लेश आदि दुर्गुण रहेंगे ही कहाँ? इन यम-नियम रूपी महाव्रतों के पालन में देश, जाति या काल विशेष को भी कोई रुकावट नहीं क्योंकि यह चाहे जिस स्थान पर चाहे जिस काल में धारण किये जा सकते हैं। इसीलिये जाति देश और काल से आबद्ध न होने के कारण सार्वभौम महाव्रतों की संज्ञा इन्हें दी गई है। स्त्री हो या पुरुष बिना किसी हिचक के इनका परिपालन समान रूप से कर सकते हैं। विश्व के सभी निवासी फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र के क्यों न रहते हों यदि इन यम और नियमों के अनुसार अपना आचार-व्यवहार बनालें तो फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर छोटे-बड़े युद्धों का खतरा रहेगा ही कहाँ? सर्वत्र दुःख दैन्य से रहित समानता और सुख शान्ति का वातावरण ही दृष्टिगोचर होगा। लेकिन दुर्भाग्य है कि विश्व के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान व्यक्ति-व्यक्ति के आचरण निर्माण के हित में बनाये गये ऐसे सर्वहित सिद्धान्तों की ओर जा ही कहाँ रहा है। भारत के ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित ऐसे सिद्धान्त और नियम जिनसे संसार शाश्वत शान्ति पा लेने का लाभ उठा सकता है उन राष्ट्र नायकों से उपेक्षित और अनदेखे से पड़े हैं जो आज विश्व शान्ति की और मानवता की रक्षा के नाम पर बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षी योजनायें बनाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संघ अरबों खरबों का बजट बनाकर सभी अविकसित और विकासशील देशों को इस आशय से प्रचुर धन दे देता है कि दुनिया के धरातल पर रहने वाले सभी मनुष्य स्वस्थ और रोग रहित जीवन जी सकें। लेकिन वह इस सचाई की उपेक्षा कर जाता है कि विश्व के असंख्य मानव हाड़-मांस की दृष्टि से अगर स्वस्थ और सबल बन भी जायें तो भी मानवता का भला तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मानसिक दृष्टि से मनुष्य को स्वस्थ, सबल और चरित्र निष्ठ न बनाया जावे।

ऐसी जनहितकारिणी विश्वव्यापी योजना अगर किसी ने बनाई है तो वह बनायी है भारत के योगियों, ऋषियों और

(३) शराब पीना (४) वेश्या सम्बन्ध रखना (५) शिकार खेलना (६) चोरी करना (७) पर स्त्री से अनुराग करना ये सातों व्यसन महापापों को उत्पन्न करने हैं अतः इनका परित्याग अवश्य करना चाहिये।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापों का परित्याग जहां श्रावक इन सब पापों का त्याग एकदेश रूप से करता है वहां एक मुनि (योगी) उनका त्याग पूर्ण रूप से करता है अतः गृहस्थ के धर्म को देश चारित्र और मुनि धर्म को सकल चारित्र कहा जाता है। जो मुनि इस प्रकार चारित्र को धारण करते हैं वे रत्नत्रय (सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र) साधन में तत्पर होकर मूल गुण, उत्तर गुण, पांच आचार और दश धर्मों का पालन किया करते हैं। मुनि के मूल गुण २८ इस प्रकार हैं:—

(१) पांच महाव्रतः—

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

(२) पांच समितिः—

(अ) ईर्या (आगे देखकर चलना) (ब) भाषा (स) एषणा (द) आदान निक्षेपण और (इ) प्रतिष्ठान।

(३) पांच इन्द्रियों का निरोधः—

(अ) स्पर्श (ब) रसना (स) घ्राण (द) चक्षु (इ) श्रोत्र।

(४) छै आवश्यकः—

(अ) समता (ब) स्तुति (स) वन्दना (द) स्वाध्याय (इ) प्रतिक्रमण (फ) कायोत्सर्ग।

(५) सात शेषगुणः—

(अ) केशलोंच (ब) वस्त्र परित्याग (स) भूमि शयन (द) दन्तघर्षण का त्याग (इ) स्नान त्याग (फ) एकबार आहार (संतुलित आहार) (ग) खड़े आहार। यह साधुओं जैन मुनियों का सामान्य रूप हुआ करता है, इनके आगे आचार्य और उपाध्यायों का भी पृथक पृथक रूप हुआ करता है। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है जो मुनि २८ प्रकार मूल-गुणों को अखंडित पालते हैं, जो आरम्भ, अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं तथा आत्म स्वभाव को साधते हैं तथा सदा ध्यान में तल्लीन रहते हैं साधु होते हैं। ऐसे साधु सांसारिक प्रपंचों से दूर रहते हैं। साधु मुनियों के बाद उपाध्याय मुनियों की अवस्था आती है। उपाध्याय वे हैं जो शास्त्रों के ज्ञाता होकर मुनियों के संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हैं, समस्त शास्त्रों का सार आत्म-रूप में एकाग्रता है, अधिकतर तो उसमें लीन रहते हैं लेकिन कभी कषाय के अंश के उदय से यदि उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं और साधु (मुनियों) को पढ़ाते हैं। मुनि पद्मनन्दि पञ्चविंशति के धर्मो-पदेशामृत के श्लोक नं० ३१ में:—

मिथ्याणानमपहाय मोह पटलं कालेन दीर्घेणजातं स्याद्वाद लाञ्छितोज्ज्वल वचो दिव्याञ्जनेन स्फुटम् ।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां
सर्वावलोक क्षमां ।
लोके कारणमन्तरेण भिष-
जास्ते पान्तु नोऽध्यापकाः ॥

जो लोक में अकारण (निस्वार्थ भाव से) वैद्य के समान होते हुए शिष्यों के चिरकाल से उत्पन्न हुए अज्ञान समूह को हटाकर 'स्यात्' पद से चिह्नित अर्थात् अनेकान्तमय निर्मल वचन रूपी दिव्य अञ्जन से उनकी अत्यन्त श्रेष्ठ दृष्टि को स्पष्टतया समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ कर देते हैं वे उपाध्याय हैं।

इस प्रकार उपाध्यायों के बाद आचार्य जो सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान सम्यक चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके मुनि संघ जिसमें साधु एवं उपाध्याय मुनि आते हैं उसके नायक हुए हैं जो मुख्य रूप से निर्विकल्प स्वरूपाचरण में मग्न रहते हैं परन्तु कभी-कभी रागांश के उदय से धर्म के लोभी भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं, दीक्षा लेने वाले को दीक्षा देते हैं, अपने दोष प्रकट करने वाले को-प्रायश्चित विधि से शुद्ध कर देते हैं आचार्य कहलाते हैं। ये आचार्य अपरिमित सुखरूपी उत्तम वृक्ष के बीजभूत अपने पांच प्रकार के (ज्ञान दर्शन, तप, वीर्य और चारित्र) उत्कृष्ट आचार का पालन करते हैं तथा अपने अन्य शिष्यों से पालन कराते हैं तथा परिग्रह रूपी गांठ से रहित ऐसे मोक्ष मार्ग को स्वयं प्राप्त हो चुके हैं तथा जिन्होंने अपने हितैषियों को भी उक्त मोक्ष मार्ग प्राप्त कराया है वे रत्नत्रय (सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र) के धारक आचार्य होते हैं।

आचार्यों के बाद अरिहंतों की साधना आती है, अरिहंत चारघातिया कर्मों का नाश निज स्वभाव द्वारा (शुक्ल ध्यानाग्नि से) शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि द्वारा नाश करके अनन्तवीर्य, अनन्त चतुष्टय, अनन्तज्ञान, अनन्त सुखका विराजमान है अरिहंत कहलाते हैं। जब चारघातिया कर्मों का नाश करते हैं तो केवल ज्ञान से लोक भाग, लोक लोक में होने वाले समस्त पदार्थों के सर्वगुण तथा पर्यायों को प्रत्यक्ष जान लेते हैं तब भव्य जीवों को शिवमग (मोक्ष मार्ग) बतलाते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अघातिया कर्मों का नाश करके कुछ ही समय बाद मोक्ष में निवास करते हैं एवं सिद्ध दशा को प्राप्त होते हैं, उनके आठ गुण कहे हैं यही सभी आत्मिक गुण हैं।

समकित दर्शन ज्ञान अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीर्य अबाध निराबाध गुण सिद्ध के॥

(१) क्षायिक सम्यक्त्व (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्तज्ञान (४) अगुरुलघुत्व (५) अव-गाहनत्व (६) सूक्ष्मत्व (७) अनन्त वीर्य (८) अव्याबाध।

इस प्रकार वीतरागी मुनि रत्नत्रय की साधना करके अर्थात् जिस प्रकार दासी दीपक की सेवा करके उसके पद को पा लेती है उसी प्रकार योगी (मुनि) अत्यन्त निर्मल ज्ञानमय असाधारण मूर्तिमान सिद्ध ज्योति की आराधना रत्नत्रय द्वारा स्पर्श करके स्थिर एवं (सिद्धपद) को प्राप्त कर लेता है। ■■

प्रभुवर-वन्दन

—श्री दिव्य

तुमही माता-पिता तुम्ही हो,
तुम ही सबके सखा-सनेही।
तुम ही धन, विद्या वैभव हो
सब देहों के तुम हो देही॥

तुम ही सूरज की किरणों में,
तुम ही हो नभ के तारों में।
तुम ही चन्द्र-ज्योति विद्युत में,
दीप्तिमान तुम अङ्गारों में॥

तुम ही झरते हो निर्झर में,
तुम ही हो प्रवाह धारा में।
तुम ही ओज, तेज, बल-विक्रम,
तुम ही श्रम हो श्रमहारा में॥

तुम ही हँसते हो फूलों में,
छिप जाते तुम ही कलियों में।
तुम ही बहुरंगी तितली में,
तुम ही हो गुञ्जन अलियों में॥

तुम ही छन्दित हो छन्दों में,
गति हो तुम ही गतिमन्तों में॥
रस हो तुम ही रसवन्तों में,
यश हो तुम ही यशवन्तों में॥

तुमही श्री, सम्पदा, शोभा,
वैभव के आगार तुम्हीं हो॥
पंचतत्वके सार तुम्हीं हो,
जीवन के आधार तुम्हीं हो॥

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Oct. 1984

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

ज्ञान का आगार मन

जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है, अतएव समस्त ज्ञान चाहे वह व्यावहारिक हो या पारमार्थिक मनुष्य के मन में ही निहित है अर्थात् वह अप्रकाशित होकर ढका रहता है। और जब मन पर पड़ा मलावरण—जिसे कुसंस्कारों का आवरण कहते हैं, धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहने लगते हैं हमें ज्ञान हो रहा है। ज्यों-ज्यों यह क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य के मन से यह आवरण हटता जाता है वही औरों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है और जिस मनुष्य के मन पर यह आवरण तह की तह पड़ा है वह अज्ञानी होता है।

—स्वामी विवेकानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बलई गली, राजामंडी, आगरा-२ फोन ६२१६८